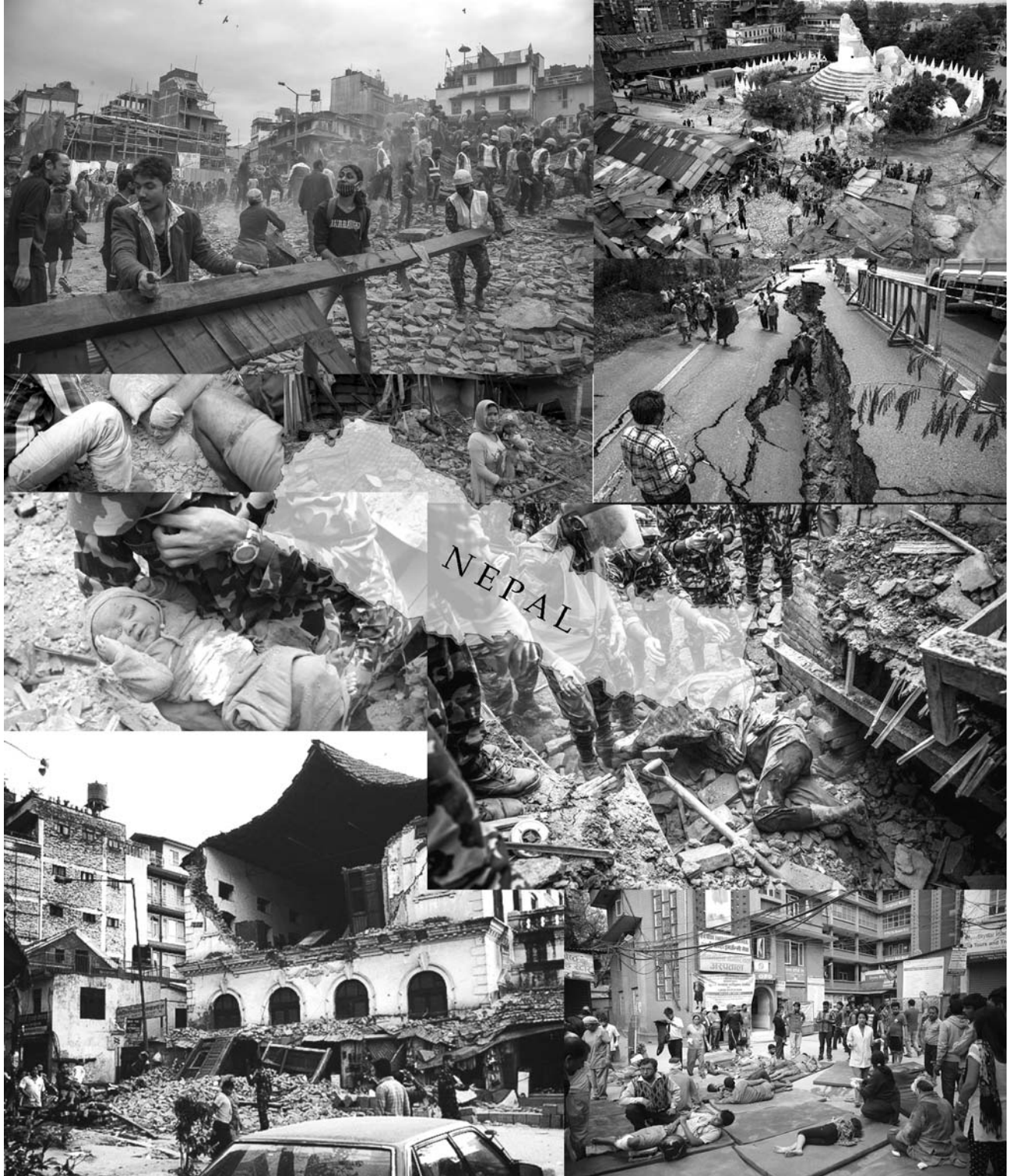


समरथ



मार्च-अप्रैल 2015 ♦ नई दिल्ली



नाहि तो जनम नसाई

मार्च-अप्रैल का यह अंक समर्पित तो होना था 19वीं-20वीं सदी के भारतीय जागरण के महान संघर्षों के नाम-ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले और बाबा साहेब के नाम जिन्होंने हिंदुस्तानी चेतना को आईने से रू-ब-रू किया। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक गैर-बराबरी और अमानवीयता को वैधता देने वाले समाज को इस परंपरा ने बेपर्द कर दिया था। भारतीय समाज अपने इन पूर्वजों का ऋणी है जिन्होंने अपनी कोशिशों से इस समाज की बुनावट में संवेदनाएं घोली हैं।

यह अंक नेपाल की भीषण त्रासदी के साये में तैयार हुआ। पूरा नेपाल इस तबाही से बेजार है। आठ हजार से ज्यादा लोग इस तबाही में मारे गए। हजारों-लाखों इमारतें गिर चुकी हैं जो बची हैं वे भी काफी कमजोर हो चुकी हैं। अनियंत्रित और अनियोजित विकास, हिमालय के साथ छेड़छाड़ और शहरीकरण का दबाव इस त्रासदी के बड़े कारण हैं। भूकंप ने उत्तर भारतीय राज्यों को भी हिलाया। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में मौतें भी हुईं। धरती के भीतर के कंपन ने राजनैतिक हदबंदियों को नहीं स्वीकारा पर क्या हमारी सरकारें सीमाओं से परे जाकर अपने समान गुण-धर्म वाले प्राकृतिक क्षेत्रों के लिए संवेदनशील नीतियां बनाने के बारे में गंभीर हैं? शायद नहीं।

वर्णवाद का पहाड़ा

■ जयप्रकाश कर्दम

मास्टर जी!

हम शुक्रगुजार हैं कि तुमने

हमें पढ़ाया

जाहिल से आदमी बनाया

एक पूरी उम्र तुमने

हमको पढ़ाने में लगायी

एक नहीं, दो नहीं

हमारे गांव की तीन पीढ़ियां

तुमने पढ़ायीं

पढ़ाई-लिखाई के अलावा

दुनियादारी की बहुत सी बातें भी

तुमने सिखायीं

मास्टर जी! तुम नहीं जानते

तुम्हारे लिए हमारे मन में

कितनी श्रद्धा थी, कितना सम्मान था

तुम हमारे कितने 'बड़े' थे

तुम्हारी सेवा को

हम अपना धर्म समझते

'मास्टर जी का काम

कौन पहले करेगा'

इस बात पर / हम आपस में झगड़ते

हम खुशी-खुशी

तुम्हारा हुक्का मांजते

तुम्हें चिलम भरकर देते

तुम्हारे लोटे में

पानी भरने को भी

हम लालायित रहते

किन्तु तुमने पानी पीने के

अपने पीतल के लोटे को

हमारा हाथ कभी नहीं लगने दिया

लोटे में पानी सदैव

सवर्ण छात्रों से ही भरवाया

मास्टर जी!

हम शुक्रगुजार हैं कि तुमने

हमें पढ़ाया
प्रगति का रास्ता दिखाया
लेकिन समता के मार्ग पर तुम
खुद नहीं चल पाए
हमने रखा तुम्हें
वर्ण और जाति से ऊपर
पर नहीं उठ पाए तुम अपनी
जातीय अहंमन्यता की संकीर्णता से
तुमने सुनायीं हमें / प्रेम की कहानियां
सिखाया भाई-चारे का सबक
जगाए तुमने / राष्ट्रियता के भाव भी
हमारे भीतर
लेकिन, नहीं चूक पाए तुम
पढ़ाने से-
वर्णवाद का पहाड़।

मुझे ही...!

■ असंग घोष

जाति
खेतों में पैदा नहीं हुई
घर के अन्दर-बाहर रखे
गमलों में नहीं खिली कभी
किसी पेड़ के फल से भी
पल्लवित नहीं हुई
ना ही किसी कारखाने में निर्मित हुई
यह बनी है
तुम्हारे ही बोये बबूल के काँटों की नोक पर
बामन!
तुम्हारे ही स्वार्थ पूर्ति के लिये
यह हरदम
मुझे दंश मारती है
तुम नहीं काटोगे
अपने बोये बबूल
मुझे ही डालना होगा मट्टा
तुम्हारी और इसकी जड़ों में।

शूद्र आदमी

■ नवेन्दु महर्षि

तीन आदमियों के आगे
भोजन की थाली है
चौथे के आगे
थाली खाली है

तीन आदमियों के बदन पर
रेशमी परिधान है
चौथे का बदन
उघड़ा है

तीन आदमियों के बिस्तर
बंगलों के भीतर
गद्दों पर हैं

चौथे आदमी का बिस्तर
बंगले के बाहर
फुटपाथ पर है

तीन आदमी देश के
प्रथम दर्जे के
नागरिक हैं

चौथा आदमी देश का
दोयम दर्जे का
नागरिक है

यह चौथा आदमी
इन तीनों की
आँख की किरकिरी है

मेरे देश की आज़ादी
सिरफिरी है।

अ-विजित

■ हारून हबीब

ढाका में एक लेखक व ब्लॉगर अविजित रॉय की हत्या व उनकी पत्नी रफीदा अहमद बोन्ना पर हुआ घातक हमला एक कायराना हरकत थी। यह क्रूरता बांग्लादेश की लिबरल राजनीति पर एक बड़ा आघात है जो स्वतंत्र विचारों और धार्मिक सौहार्द की संस्कृति को बढ़ावा देती है। इस हत्या ने बांग्लादेश की धर्मनिरपेक्ष आबादी को एक बार फिर चेताया कि अतिवादी तत्व सक्रिय हैं और स्वतंत्र आवाज़ों को खामोश करवाने पर तुल चुके हैं।

लोकप्रिय ब्लॉग-मुक्त-मन (मुक्तो-मना के संस्थापक 43 वर्षीय अविजित रॉय और उनकी पत्नी 40 वर्षीय रफीदा पर ढाका विश्वविद्यालय के टीचर-स्टूडेंट सेंटर के सामने अज्ञात हमलावरों ने घातक हथियारों से उस समय हमला किया जब वे बांग्ला अकादमी पुस्तक मेले में शिरकत कर घर लौट रहे थे। इस पुस्तक मेले में उनकी भी कुछ नई किताबें प्रकाशित हुई थीं। रात 9 बजे के आसपास सैंकड़ों लोगों की पुस्तक मेले से निकलती भीड़, दर्जनों पुलिस वाले और पुस्तक मेले की निगरानी कर रहे सुरक्षाकर्मियों के सामने यह हत्या हुई। पर किसी ने उन दोनों की मदद या हमलावरों को रोकने की कोशिश नहीं की। एक युवा फोटोग्राफर उन्हें नज़दीक के अस्पताल तक लेकर गया जहां थोड़ी ही देर में अविजित ने दम तोड़ दिया।

अविजित और उनकी पत्नी अमेरिका से बांग्लादेश अपनी बीमार मां को देखने और पुस्तक मेले में शिरकत करने आए थे। हर साल यह मेला ऐतिहासिक भाषा आंदोलन की याद में फरवरी में आयोजित किया जाता है।

अविजित के पिता प्रो. अजय रॉय ढाका विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में प्रोफेसर हैं। एक मुक्त समाज के निर्माण के लिए ज़रूरी बहसों को जगह देने के लिए अविजित ने मुक्त-मन ब्लॉग स्थापित किया जो बाद में एक वेबसाइट बना। संभवतः नेट पर दक्षिण एशिया का यह पहला मानवतावादी फोरम था। अविजित के शब्दों में 'एक ऐसे समाज का निर्माण जो मनमाने हुक्मों, सुविधाजनक अंधविश्वास, गलाघोटू परंपराएं या दमघोटू रूढ़िवादिता से बंधा न हो बल्कि तर्क, मानवता, बराबरी, संवेदना और विज्ञान पर आधारित हो।' इसने हमेशा लोगों की स्वतंत्रता व सिविल लिबर्टी पर होने वाले हमलों के खिलाफ आवाज़ उठाई।

10 किताबें और एक ई-किताब के लेखक अविजित ने लगभग 600 ब्लॉग लिखे। उनकी किताबों की विषयवस्तु एक तरफ ब्रह्मांड से लेकर धर्म का विज्ञान तो दूसरी तरफ प्यार और समलैंगिकता से लेकर मनोविज्ञान तक है। पेशे से वे सॉफ्टवेयर इंजीनियर थे और अमेरिका में रहते थे।

अविजित ने 2013 में शाहबाग आंदोलन के लिए भी अभियान चलाया था और जब कुछ बांग्लादेशी 'नास्तिक' ब्लॉगर ईशनिंदा के आरोप में गिरफ्तार हुए तो उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मुक्तकामी सोच वाले समूहों के साथ उन्हें न्याय दिलाने के लिए वे लगातार सक्रिय रहे। वे यह मानते थे कि नास्तिकता एक तार्किक अवधारणा है जिसके सहारे किसी भी अवैज्ञानिक अतार्किक आस्था से लड़ा जा सकता है। 1971 में मुक्तिसंग्राम के दौरान पाकिस्तानी सेना और उनके कट्टरपंथी हमराहों द्वारा की गयी जघन्य कार्रवाईयों और अपराधों के लिए न्याय की मांग उनका एक प्रमुख एजेंडा रहा।

पहली बार 2008 में वे कट्टरपंथियों के निशाने पर अपनी किताब अविश्वासेर-दर्शन (अविश्वास का दर्शन) के प्रकाशन से आए। 2013-14 में उन्हें इसके लिए कई धमकियां मिलीं। रोकोमारी डॉट कॉम नामक एक ई-कॉमर्स साइट ने अपनी सूची से इस किताब का नाम तब हटा दिया जब इसके मालिक को कट्टरपंथियों द्वारा हत्या की धमकी मिली।

अविजित की हत्या ने इससे मिलती-जुलती एक और दुखद घटना की याद ताज़ा कर दी। फरवरी 2004 में प्रसिद्ध व्यक्ति, लेखक और फ्री थिंकर हुमायूँ आज़ाद को उसी जगह पर अज्ञात हमलावरों ने निर्ममतापूर्वक मारा था।

वे भी बांग्ला एकेडमी पुस्तक मेले से लौट रहे थे। एक दूसरे ब्लॉगर, अहमद रज़ीब हुमायूँ को मज़हब की आलोचना की वजह से 2013 में ढाका में मार डाला गया था। जमात-ए-इस्लामी द्वारा समर्थित उग्रवादियों ने उत्तरी राजशाही में पिछले साल एक यूनिवर्सिटी प्रोफेसर ए.के.एम. शफीउल इस्लाम की हत्या कर दी। प्रो. इस्लाम बाउल की लोक परंपरा से जुड़े थे। हत्या के कुछ घंटे बाद एक स्व:घोषित उग्रवादी संगठन अंसारुल्लाह बांग्ला टीम-2 ने फेसबुक पर इस हत्या की ज़िम्मेदारी ली थी।

अविजित को उग्रवादी इस्लामी संगठनों द्वारा अपने विचारों

के लिए लगातार धमकियां मिल रही थीं। इस निंदनीय हत्या के कुछ ही देर बाद उग्रपंथी संगठन अंसारुल्लाह बांग्ला टीम-7 ने अपने ट्विटर अकाउंट पर इस हत्या की ज़िम्मेदारी ली। इस हत्या को व्यापक तौर पर बांग्लादेश में धर्मनिरपेक्षता और आज़ादख़्याली पर हमले के रूप में देखा गया, जो 1971 के मुक्तिसंग्राम की धरोहर हैं। यह हत्या संभवतः एक बड़ी समस्या की एक झलक है जिससे यह मुल्क दो-चार है और वह है धार्मिक उग्रवादियों द्वारा समाज में असहिष्णुता और कट्टरपन को बढ़ावा देना। राजनैतिक कारणों से इसे नज़रअंदाज़ करना एक गंभीर भूल साबित होगी।

अविजित अमेरिकी नागरिक थे और अमेरिकी सरकार ने फौरन इस मामले को गंभीरतापूर्वक लेते हुए कार्रवाई की। उनकी पत्नी रफ़ीदा को इलाज के लिए अमेरिका ले जाया गया। साथ ही फेडरल ब्यूरो ऑफ इन्वेस्टिगेशन (RBI) की टीम अगले ही दिन जांच में स्थानीय पुलिस की मदद के लिए ढाका आ गयी थी।

इस मामले में मुख्य संदिग्ध अपराधी शफ़ीउर रहमान फाराबी को इलीस रेफिड एक्शन बटालियन द्वारा गिरफ्तार किया गया। यह युवा उग्रवादी शाहबाग आंदोलन का शिल्पीकार और सक्रिय कार्यकर्ता ब्लॉगर रजीब की हत्या के बाद सुर्खियों में आया। इसने उस हत्या के बाद अपने फेसबुक अकाउंट पर न सिर्फ़ खुशियां जाहिर की बल्कि यह चेतावनी भी दी कि अगर किसी इमाम ने 'इस नास्तिक ब्लॉगर' के लिए नमाज़-ए-जनाज़ा पढ़ा तो वह भी मारा जाएगा।

पिछले साल रोकामारी डॉट कॉम ने अपनी सूची से अविजित की किताबें फाराबी की धमकियों के बाद ही हटाई थीं। 2010 में चिट्टगांव विश्वविद्यालय में तोड़फोड़ की घटनाओं के बाद और 2013 में रजीब हैदर के लिए नमाज़-ए-जनाज़ा पढ़वाने वाले इमाम के खिलाफ़ मौत की धमकी जारी करने के बाद फाराबी को गिरफ्तार भी किया गया। पर दोनों ही बार उसे ज़मानत मिल गयी।

इस हत्या के बाद मुक्तियोद्धाओं, छात्रों, शिक्षकों, लेखकों, बुद्धिजीवियों और अन्य प्रबुद्ध नागरिकों ने ढाका विश्वविद्यालय के परिसर में कई दिनों तक प्रदर्शन किया। लोगों ने सोशल मीडिया पर अपनी राय रखी, फोटो अपलोड किये पर कई समूह थे जो इस पर खुशियां भी मना रहे थे। "अल्लाहो अकबर!!! हम ये कर सकते हैं!!! टारगेट डाउन हियर इन # बांग्लादेश" अंसार बांग्ला 7 नाम के ट्विटर अकाउंट पर 26 फरवरी को हत्या के आधे घंटे बाद ही यह ट्वीट किया गया। इसी अकाउंट पर अविजित और रफ़ीदा की रक्तरंजित तस्वीर डाली गई और साथ में लिखा था- 'पिछले 3-4 सालों से यह टॉप टारगेट था। पिछले साल 25 को फाराबी ने अपने

फेसबुक अकाउंट पर लिखा था कि 'बांग्ला मुसलमानों का पुनीत कर्तव्य है अविजित को मारना'। फिर 9 फरवरी 2014 के एक दूसरे पोस्ट में उसने लिखा कि 'अविजित रॉय की हत्या अभी नहीं की जा सकती। वह अमेरिका में रहता है। पर वापस आने पर निश्चित ही वह मारा जाएगा।'

रजीब हैदर की हत्या में पुलिस को एक भूमिगत अतिवादी संगठन अंसारुल्लाह बांग्ला टीम का हाथ होने के प्रमाण मिले थे। इस संगठन के छः सदस्य जो देश के बेहतरीन निजी विश्वविद्यालयों में से एक नॉर्थ साउथ यूनिवर्सिटी के छात्र थे अब सलाखों के भीतर हैं।

यह एक गंभीर चिंता का मसला है कि इन उन्मादी संगठनों ने देशभर के प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थानों में अच्छी खासी पैठ बना ली है और अधिकतर मामलों में यह प्रभावशाली पारिवारिक पृष्ठभूमि वाले नौजवानों की भर्ती करते हैं।

1971 में एक हिंदू परिवार में जन्मे अविजित ने 14 अक्टूबर, 2014 को एक फेसबुक पोस्ट में लिखा था 'मेरा किसी भी धर्म में कोई ख़ास विश्वास नहीं है पर मेरे आस-पास और मेरे बहुत से नज़दीकी लोग मुस्लिम हैं। मेरे मन में उनके लिए कोई विरोध या विद्वेष नहीं है। मैं उनके साथ उनकी खुशियों के पल को साझा करता हूँ। मुझे तकलीफ़ होती है जब उन्हें ऊपर किया जाता है। मुझे कभी भी फिलीस्तीन और कश्मीर के मुसलमानों के साथ खड़े होने में कोई झिझक नहीं है अगर वे अत्याचार और दमन के शिकार होते हैं। मैंने ऐसा अतीत में किया है और भविष्य में भी करूंगा। यह मेरी मानवता का एलान है।

अविजित ने नास्तिकता की वक़ालत की। उनके अनुसार यह किसी भी अवैज्ञानिक या अतार्किक विश्वास के खिलाफ़ एक तार्किक अवधारणा है।

मैंने 2001 में सिर्फ़ एक वजह से मुक्तो-मना (मुक्त-मन) जैसे काफ़िराना साइट की शुरुआत की थी। इस साइट की सोच थी - विवादास्पद पर बेहद ज़रूरी मुद्दों पर बहस-मुबहिसा। मेरे विचार में सिर्फ़ इसी सिद्धांत के आधार पर बांग्लादेश और दक्षिण एशिया में मुख्यधारा के तौर पर प्रगतिशील, तार्किक और धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना संभव है - इस मंच की स्थापना करते हुए 2013 में उन्होंने लिखा था।

अविजित के परिवार ने उनकी इच्छानुसार ढाका मेडिकल कॉलेज हॉस्पिटल को शोध के लिए उनका देहदान किया। अविजित की हत्या के बाद मुक्तो मना साइट पर संदेश था : "हम शोक विह्वल हैं पर 'अविजित' हैं।"

साभार : फ्रंटलाइन

भारतीय मुस्लिम नवजागरण-१

■ कर्मन्दु शिशिर

भारतीय नवजागरण की सबसे बड़ी विडंबना यह रही कि इसमें उर्दू और मुस्लिम नवजागरण के पक्ष की सबसे अधिक अनदेखी हुई। बंगला, मराठी या दक्षिण के नवजागरण के पूरे विमर्श में हिंदुत्व के अंतर्विरोधों में स्त्री विमर्श के बाल विवाह, विधवा विवाह, सती प्रथा और स्त्री शिक्षा को तथा ब्राह्मणवादी व्यवस्था में दलित सवाल को पूरी प्रमुखता से उठाया गया। लेकिन मुस्लिम पक्ष की उपेक्षा यथावत बनी रही। इसका सबसे गहरा असर हिंदी नवजागरण पर पड़ा। यहां न स्त्री विमर्श उतना मुखर था और न ही दलित विमर्श। ऐसे में हिंदी नवजागरण का विमर्श आसानी से हिंदू नवजागरण की शक्ति में तब्दील किया जाने लगा और वह स्वभावतः वाद-विवाद की अंतहीन दिशा की ओर भटक गया। एक विशाल हिंदी भाषी समाज के नवजागरण की इस दुर्दशा का असर पूरे भारतीय नवजागरण के स्वरूप पर पड़ा और भारतीय नवजागरण का अपेक्षित स्वरूप आज तक समग्रता में उभर कर सामने नहीं आ सका। आश्चर्य इस बात का है कि इसके बावजूद विचारकों का ध्यान उर्दू और मुस्लिम नवजागरण की ओर नहीं गया। हम यह भूल गये कि बिना उर्दू और मुस्लिम नवजागरण के हम न सिर्फ हिंदी बल्कि पूरे भारतीय नवजागरण की भव्यता को कभी नहीं उकेर सकते।

इतिहासकारों ने हिंदी-उर्दू के इस विशाल भू-भाग के आकलन में अपना नजरिया हिंदू-मुस्लिम रिश्ते तक ही सीमित रखा और सांप्रदायिकता से इतर उन्होंने किसी अन्य मसले पर कोई विचार ही नहीं किया। ऐसा करते हुए इतिहासकारों ने जाने-अनजाने एक और बड़ी चूक की जिसका असर और घातक पड़ा। वे मुस्लिम समाज में चल रही विभिन्न धाराओं का उल्लेख और आकलन करते समय अपेक्षित विवेक और संतुलन नहीं बना पाये। सांप्रदायिक विद्वेष और विभाजन की विजित धारा की प्रमुखता इतिहास के पन्नों पर इस तरह छापी रही कि उसकी असांप्रदायिक धारा की उपस्थिति हमेशा के लिए हाशिये पर चली गयी, जो समय के साथ स्मृतियों में टिमटिमाती विलीन भी होती गयी। हम उस पराजित धारा के महत्व और उपयोग को समझ ही नहीं पाये। उदाहरण के लिए इतिहास के इस काल-खंड में हमने जितनी जगह अलीगढ़ आंदोलन और उसके नायकों को दी, उतनी उसके समानांतर चली देवबंद आंदोलन की धारा को नहीं दे सके। उसके महान नायकों को इतिहास के पन्नों में हमने उल्लेख तक ही सीमित कर दिया जबकि उनकी जगह निःसंदेह हमारी स्मृतियों, विचारों और चेतना में होनी चाहिए थी। हम यह भूल गये कि असफल होने के बावजूद उनकी

अहमियत और प्रासंगिकता कहीं ज्यादा थी। हम यह भी भूल गये कि आज हमारी सोच और चेतना का नाभि-नाल रिश्ता उन्हीं से जुड़कर अर्थवान हो सकता है। आज अलीगढ़ आंदोलन से जुड़ी एक-एक सामग्री जितनी आसानी से उपलब्ध हो जाती है, देवबंद आंदोलन की सामग्री उतनी ही अप्राप्य और दुर्लभ हो गयी है। ऐसे में देवबंद आंदोलन और उसके नायकों से परिचित होना आज एक उत्तेजक अनुभव की तरह लगता है तो आश्चर्य नहीं। हम उम्मीद करते हैं कि कम से कम हिंदी समाज का ध्यान इस ओर जाएगा और वे साझी विरासत के इन महान शिल्पकारों को अब नये सिरे से उकरेंगे और उन्हें ओट से बाहर लाने की ज्यादा समर्थ और बेहतर कोशिश करेंगे।

दारुल उलूम (ज्ञान का घर) की स्थापना सहारनपुर के एक छोटे से कस्बे देवबंद में हुई थी। इसकी स्थापना तिथि (30/31 मई, 1867) को लेकर मतभेद है लेकिन देवबंद से प्रकाशित इतिहास में 31 मई, 1866 की तारीख दर्ज है। इसके मुख्य संस्थापक मौलाना कासिम नानौवती थे जिनका जन्म 1823 में सहारनपुर के नानौता गांव में हुआ था। बाद में वे देवबंद के महताब अली के स्कूल में आ गये और फिर 1843 में विशेष शिक्षा के लिए दिल्ली चले गये। जहां उन्होंने शेख अब्दुल गनी मोहादित देलहवी से शिक्षा ली। वे इस्लाम और हदीस के बहुत बड़े ज्ञाता थे। उनका मानना था कि नानौवती वली बने नहीं थे, बल्कि वली पैदा ही हुए थे। ये बहुत खुशमिजाज तबीयत के आदमी थे। जब 1857 का संग्राम छिड़ा तो उसमें शिरकत करने को लेकर लोग दुविधा में थे लेकिन नानौवती ने ऐसे वक्त मां से कहा कि “खुदा की राह में जान और माल फिदा कर देने में बंदे को कभी हिचकना नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आप खुशी से मुझे इसकी इजाजत दे दें ताकि आपको भी इसका सवाब मिले।” मां ने जवाब देने में तनिक देर नहीं की।

“तुम तो अल्लाह की ही सौगात हो, मैं खुशी से तुमको अल्लाह के सुपुर्द करती हूँ। अगर तुम जिंदा वापस आ गए तो मैं तुमसे मिल लूंगी, नहीं तो आखिर में इंशाअल्लाह खुदा के घर ही मिलना होगा।”

कासिम नानौवती ने अपने अभिन्न मित्र रशीद अहमद गंगोही के साथ मिलकर एक फौजी दस्ता तैयार किया था। शामली, थाना भवन और कैरान के इलाकों में उन्होंने ब्रिटिश सेना से जबर्दस्त लड़ाइयां लड़ीं और कई अंग्रेजों को मारा। बाद में अंग्रेजों ने इस इलाके में बड़ी तबाही मचायी और

44 लोगों को वहीं फांसी पर लटका दिया और सैंकड़ों लोगों को गिरफ्तार किया। इनके प्रेरक हाजी इमदादुल्लाह मुहाजिर मक्की पर वारंट निकला। वे नानौवती साहब के पिता के दोस्त थे। पिता शेख असद अली ने उनसे कहा कि “मेरा तो यही एक बेटा था, जिससे मुझे बड़ी उम्मीदें थीं। कुछ कमाता तो गरीबी दूर हो जाती। पता नहीं तुमने क्या कर दिया कि यह न तो कुछ कमाता है, न नौकरी करता है।” हाजी साहब ने जवाब दिया- “ऐसी औलाद सदियों पहले पैदा हुआ करती थी। कई सदी बाद अल्लाह ने ऐसी शख्सियत पैदा फरमायी है।”

रशीद अहमद गंगोही से नानौवती साहब की अभिन्न दोस्ती बचपन से थी। गंगोही साहब का जन्म 10 मई, 1829 (कहीं-कहीं 1826 भी) में गंगोहा गांव में हुआ था। वे हजरत असू अयूब अंसारी के वंशज थे। कम उम्र में ही उन्होंने काफी शिक्षा पा ली थी। गंगोही साहब और नानौवती दोनों के कुछ शिक्षक एक ही रहे थे जिनमें सबसे प्रमुख शिक्षक थे-हाजी इमदादुल्लाह मुहाजिर मक्की। मक्की साहब बहुत प्रसिद्ध थे। वे इस्लाम और कुरान के जितने बड़े शिक्षक थे, उतने ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी भी थे। 1857 की क्रांति में उन्होंने अनेक युवकों को प्रेरित किया था। नानौवती और गंगोही साहब दोनों ने हदीस की शिक्षा साथ-साथ शेख अब्दुल गनी मोहदित देलहवी से ली थी, जो अपने समय के बड़े मशहूर आलिम थे। गंगोही साहब जब सात साल के थे तो उनके पिता का इंतकाल हो गया और वे अनाथ हो गये। उनके चाचा/मामा ने जो बहुत बड़े उलेमा थे-उन्हें पाला-पोसा और ऊंची तालीम दिलवायी। 21 वर्ष की उम्र में उनकी शादी चचेरी/ममेरी बहन से हुई लेकिन साल भी नहीं गुज़रा कि वे हफीज़ बन गये और रूहानी जीवन में मशगूल रहने लगे। उन्होंने एक साल में ही कुरान कंठाग्र कर लिया। वे जगह-जगह प्रवचन भी देने लगे थे। दरअसल धार्मिक प्रवचन की ओट में ही उस काल के कई सेनानी 1857 की क्रांति की पीठिका बनाने में लगे थे।

गंगोही और नानौवती साहब दोनों दीक्षित होने के लिए मक्की साहब के पास गये और बैत दिया। मक्की साहब ने दोनों का बैत स्वीकार कर लिया। इस क्रम में दोनों उनके साथ पूरे बयालीस दिन रह गये। इस दौरान दोनों का मक्की साहब से गहरा लगाव बन गया। वे उनसे बहुत प्रभावित थे। उन्होंने दया, सहनशीलता के साथ-साथ पूरी इस्लामी शिक्षा दी। गुलामी और आज़ादी के महत्व और फर्क को भी बताया। उन्होंने साफ-साफ कहा-“मैं तुम्हें अब और कुछ नहीं दे सकता। अल्लाह ताला ने जो कुछ मुझे दिया है, वह सब अब तुम्हारे भीतर है।” 42वें दिन जब दोनों जाने लगे तो मक्की साहब भी साथ हो लिये। उन्होंने रास्ते में बताया कि “अगर तुम्हारे पास

कोई बैत लेकर आए तो उसे मना मत करना।” गंगोही साहब ने बड़े भोलेपन से कहा-“मेरे पास कौन आएगा?” मक्की साहब ने बात बहुत आगे नहीं बढ़ाई। “तुम्हारे पास कौन आएगा, इसके लिए तुम क्यों चिंतित हो? मैंने जो कहा, बस वही करना।” गंगोही साहब चुप हो गये। गंगोही साहब का ज्ञान इतना विस्तृत और गहरा था कि नानौवती साहब का मानना था कि “गंगोही आज के अबू हनीफ हैं।” उस समय के इस्लाम के बहुत बड़े ज्ञाता हजरत मौलाना अनवर शाह कश्मीरी तो गंगोही साहब को खुदा के अनेक अजूबों में एक अजूबा मानते थे। लोग उनको चलता-फिरता पुस्तकालय कहा करते थे। उस ज़माने के सबसे प्रसिद्ध अल्लामाओं में एक शमी से उनकी तुलना की जाने लगी थी। लोग कहते गंगोही अगर अल्लामा शमी से बेहतर नहीं तो कमतर भी नहीं। वे ज्ञान के उस मुकाम पर पहुंच चुके थे, जिसके आगे मनुष्य की राह नहीं होती। जब कोई उलेमा भटक जाते तो उनसे परामर्श लेते। गंगोही साहब के यहां से कोई असंतुष्ट होकर नहीं लौटता था। उनके एक समकालीन थे-मौलाना अहमद रज़ा खान। वे उनसे बेहद ईर्ष्या करते थे और जो भी जाता उससे निंदा करते और बड़ी बेरहमी से भर्त्सना करते। हमेशा उनके लिए कड़ी, कटु जुबान बकते। गंगोही साहब सुनते, आहत भी होते मगर कुछ नहीं बोलते। उनके छात्र या समर्थक जवाब देने को आतुर रहते लेकिन वे सभी को मना कर देते। वे कहते कि जवाब देना व्यर्थ है। उसके बदले तुम एक कोने में चले जाओ और खुदा को याद करो। कुछ दिनों बाद पता चला कि मौलाना अहमद रज़ा खान को कुष्ठ हो गया। यह सुनकर उनके शिष्य और समर्थक खुश हुए कि अल्लाह ताला ने उनको दंडित कर दिया। गंगोही साहब ने प्रतिकार किया और बोले-“किसी के दुःख में कभी खुश नहीं होना चाहिए। सिर्फ खुदा ही जानता है कि हमारा अंत कैसा होगा? क्या पता इससे भी बुरा हो।”-गंगोही साहब जितने बड़े संत थे, उतने बड़े योद्धा और उतने ही बड़े हकीम भी थे।

1857 के संग्राम में भारतीय सैनिकों की पराजय से नानौवती साहब और गंगोही साहब बहुत दुःखी हुए। युद्ध के बाद हिंदुस्तान की हुकूमत सीधे अंग्रेज़ कौम के हाथों में आ गयी और दिल्ली में महारानी विक्टोरिया की ताजपोशी के जश्न की तैयारियां होने लगी। नानौवती साहब उस समय दिल्ली में ही थे। उन्हें यह सब देखकर अंदर से बहुत कुड़न हो रही थी। वे भारी मन से अपने गांव नानौता आ गये। वहां भी मन न लगा तो देवबंद आये। लोगों ने पूछा तो उन्होंने कहा कि -“मुझसे अंग्रेजों की शौकत देखी नहीं जाती। मैं दिल्ली से इसीलिए भाग आया कि न वहां रहकर देखूंगा और न मुझे कोफ्त होगी।” नानौवती साहब की ससुराल देवबंद के दीवान मुहल्ले में ही थी। उसी के पास मस्जिद में उनका आना-जाना था। वहीं हाजी मुहम्मद आदिब

और मौलाना रफीउद्दीन साहब भी टिका करते थे। देवबंद के दो बुजुर्ग दानिशमंद मौलाना जुल्फिकार अली और फजलुर्रहमान भी अक्सर आकर वहीं बैठते थे। इन सबसे तब के हालात पर गुफ्तगु होती। दरअसल वह पूरा दौर ही पस्ती का था। ब्रिटिश दमनचक्र चरम पर था। ईसाई पादरी बाइबिल सोसायटी बनाकर लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने का अभियान चला रहे थे, जिनको ब्रिटिश सरकार का भरपूर संरक्षण मिला हुआ था। वे खुलेआम हिंदू धर्म और इस्लाम धर्म का उपहास उड़ाया करते थे। मैकाले की नयी शिक्षा प्रणाली का प्रसार हो रहा था। इसका सबसे बड़ा आकर्षण सरकारी नौकरियों का था। उन्हें मुसलमानों की ओर से एक बड़े नायक सैयद अहमद खान का ज़बर्दस्त समर्थन मिल रहा था-जो मुसलमानों को अंग्रेज़ों के पक्ष में लाने के लिए बेहद प्रयत्नशील थे। वे घूम-घूमकर मुसलमानों को नयी शिक्षा हासिल करने का अभियान चला रहे थे। वे मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार के विरोध से दूर रहने की लगातार अपील कर रहे थे। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार के करीब जाना और उसका पक्ष लेना ही मुसलमानों के हित में है। लेकिन उनकी सारी कवायद अशराफ मुसलमानों को लेकर थी। पसमांदा मुसलमानों के प्रति उनका नज़रिया हेय था।

ऐसी स्थिति में मुस्लिम कौम के इन रहनुमाओं को लग रहा था कि अगर उन्होंने कुछ नहीं किया तो इस्लामी रीति-रिवाज़, सिद्धांत और संस्कृति पूरी तरह मिट जाएगी। इसी चिंता और उद्देश्य को ध्यान में रखकर इन लोगों ने इस्लामी शिक्षा का एक केंद्र खोलने पर विचार-विमर्श शुरू किया। अंततः निर्णय हुआ और मस्जिद के खुले आंगन में अनार के पेड़ के नीचे इसकी शुरुआत की गयी। इसके पहले प्राध्यापक बने मेरठ के मौलाना मुल्ला महमूद और पहले विद्यार्थी महमूद-उल हसन हुए-जो आगे चलकर प्रसिद्ध स्वाधीनता सेनानी बने और शेखुल हिंद के नाम से मशहूर हुए। लेकिन मुहम्मद तैयब साहब ने शेखुल हिंद पर अपने शोध में बताया कि पहले बैच में पांच विद्यार्थी थे-जिसमें एक शेखुल हिंद भी थे। जो हो लेकिन यह पहला इस्लामी केंद्र था जिसमें पढ़ने वाले विद्यार्थी का सारा खर्च संस्था ही वहन करती थी। जल्दी ही इसकी लोकप्रियता बढ़ने लगी और छात्रों की संख्या बढ़कर 78 हो गयी। इसमें 58 विद्यार्थी बाहर के थे।

दारूल उलूम की स्थापना का घोषित उद्देश्य तो इस्लामी सिद्धांत और रीति-रिवाज़ की शिक्षा ही थी लेकिन अंदरूनी सच्चाई यह थी कि इसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक केंद्र के रूप में स्थापित किया गया था। यह बात बहुत बाद में तब उजागर हुई जब इससे जुड़े प्राध्यापक और छात्र रेशमी रूमाल आंदोलन में गिरफ्तार किये गये। दारूल उलूम

का लक्ष्य नानौवती और उनके अभिन्न सहयोगी रशीद अहमद गंगोही ने तय किया था कि यह आलिम और सामान्य मुसलमानों के बीच संपर्क-संवाद करेगा।

दारूल उलूम देवबंद से प्रकाशित 'दारूल उलूम देवबंद का इतिहास' जिसका संकलन मौलाना मुहम्मदुल्लाह कासमी ने किया है उसमें पुराने दस्तूर असासी (नियमावली) को प्रकाशित किया है। उसके अनुसार इसकी स्थापना के पांच उद्देश्य दर्ज किये गये हैं।

(1) कुरआन मजीद, तफसीर, हदीस, अकीदा (धार्मिक विश्वास) और उनके ज्ञान के संबंध में ज़रूरी और लाभदायक शिक्षा देना और मुसलमानों को पूर्ण रूप से इस्लामी जानकारी देना और इस्लाम का प्रचार।

(2) इस्लामी व्यवहार के अनुसार चरित्र निर्माण और विद्यार्थियों के जीवन में इस्लामी रूह पैदा करना।

(3) इस्लाम का प्रचार-प्रसार और दीन की रक्षा के लिए लेखन और भाषण करना। उनमें पूर्वजों और नेक महापुरुषों जैसा चरित्र और आचरण का जज्बा पैदा करना।

(4) सरकार और हुकूमत के प्रभाव से बचना। ज्ञान और शिक्षा की स्वतंत्रता को कायम रखना।

(5) दीन की शिक्षा, प्रचार-प्रसार के लिए विभिन्न जगहों पर अरबी मदरसे कायम करना और उसे दारूल उलूम से संबद्ध करना। (दस्तूर असासी 5-6) पृ. 62

इस तरह पूरी तरह घोषित इस्लामी धार्मिक शिक्षा के साथ मौलाना कासिम नानौवती और मौलाना रशीद अहमद गंगोही ने इस संस्था को खड़ा किया। यह बात गौर करने वाली है कि रूहानी स्तर पर नानौवती और गंगोही साहब-दोनों ने असाधारण ऊंचाई हासिल की थी। दोनों इस्लाम, कुरान और हदीस के बड़े आलिम थे। आप अनुमान कर सकते हैं कि उनकी शिक्षा-व्यवस्था, पाठ्यक्रम और खुद पढ़ाने के सिलसिले का छात्रों पर कैसा असर पड़ता होगा। छात्र सम्मोहित रहते थे। लेकिन जिस बात पर सहसा यकीन नहीं होता कि ऐसी तसव्वुर वाली रूहानी शिक्षा की ओट में उनके सियासी इरादे भी थे, जो समय-समय पर जाहिर होते रहे। ब्रिटिश हुकूमत के प्रति नानौवती साहब और गंगोही साहब ने सशस्त्र संघर्ष में भाग लिया था। उनके भीतर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध घनीभूत घृणा थी लेकिन तत्कालीन हालत को देखते हुए वे बड़ी सावधानी से कदम रख रहे थे। यह बात महमूद-उल हसन शेखुल हिंद के हाथ में बागडोर आते ही उजागर भी होने लगी। जब कांग्रेस की स्थापना हुई तो देवबंद ने उसका खुलकर स्वागत किया। जब सैयद अहमद ने इनसे संपर्क कर कांग्रेस विरोध में सहयोग मांगा तो न सिर्फ उनकी मांग ठुकरा दी, बल्कि उनके अभियान की निंदा भी की और फतवा भी जारी किया। इससे अंग्रेज़

काफी सतर्क हो गये और इन पर कड़ी नज़र रखने लगे। देवबंद की आर्थिक स्थिति अत्यंत कमज़ोर थी इसलिए 19वीं शताब्दी के अंत तक उसका ब्रिटिश विरोधी अभियान लगभग खामोश रहा। वे अपने मूल उद्देश्य को लेकर ही इस्लामी शिक्षा के प्रति सक्रिय रहे और समर्थन की कोशिशों में लगे रहे। इसका सुफल भी सामने आया और इसे सुदूर तक मुस्लिम कौम की सहायता मिलने लगी।

नानौवती साहब और गंगोही साहब की सोच थी कि अंग्रेज़ अंग्रेज़ी नीति की आड़ में अपना धर्म फैलाना चाहते हैं। इसलिए वे मैकाले की नयी शिक्षा प्रणाली को लेकर सचेत थे। दारूल उलूम की बुनियाद रखते हुए ही उन्होंने कहा था कि हम नयी शिक्षा हासिल करने की राह में रुकावट नहीं डालना चाहते लेकिन दारूल उलूम के पाठ्यक्रम में इसकी कोई गुंजाइश नहीं, जो लोग ऐसा चाहते हैं वे या तो सरकारी स्कूलों में जाएं अथवा अपना स्कूल खोल लें। उनका यकीन था कि पारंपरिक ज्ञान पर ही ध्यान देना उचित और वांछित है। अनेक अनुशासनों की शिक्षा छात्रों के लिए नुकसानदेह है। आगे चलकर गंगोही साहब के प्रयत्नों से सहारनपुर में मजाहिरूल उलूम की भी स्थापना हुई। दारूल उलूम और मजाहिरूल उलूम की तरक्की ही उनकी खुशी थी। उन्होंने कई बार हज किये थे और हदीस के छह सिहाह पर प्रचवण दिया था। उनकी आखिरी तकरीर 1895 में हुई जब उनकी आंखों की रोशनी चली गयी थी। हार्डी का उद्धरण लेते हुए मुशीरुल हसन साहब ने लिखा है कि “देवबंदी उलेमाओं ने 1911 से 1951 के बीच, 1,47,851 फतवे जारी किये। इन्हीं में राशिद अहमद गंगोही के वे फतवे भी शामिल हैं, जिनमें धर्म को खतरा न होने की सूरत में अंग्रेज़ी की पढ़ाई को जायज माना गया।” (भारत में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राजनीति पृष्ठ 158) लेकिन जब गंगोही साहब का 1905 में ही इंतकाल हो गया तो 1911 से 1951 के बीच जारी फतवों में उनके नाम का फतवा कैसे हो सकता है?

लेकिन देवबंद के आधिकारिक इतिहासकार रिजवी साहब ने लिखा है कि यह संस्था सिर्फ धार्मिक शिक्षण तक ही महदूर नहीं थी। धीरे-धीरे यह संस्था एक प्रभावशाली और सक्रिय आंदोलन के रूप में विकसित होती गयी। इस संस्था से उठे आंदोलन ने मुसलमानों के विचार और आचरण से तमाम कूड़ा-कचरा साफ कर दिया और उन्हें शुद्ध और सच्चे इस्लाम से परिचित कराया। वे कई तरह के अंधविश्वासों से मुक्त हुए। सबसे बड़ी बात यह थी कि इसने सच्चे इस्लाम से राष्ट्रीयता और देशप्रेम को जोड़ा। इस्लामी मान्यताओं के प्रति अपनी आस्था को बनाये रखते हुए दूसरे कौम के साथ एक साझी संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत किया। यह बात आगे

चलकर स्वाधीनता आंदोलन में साबित भी हुई। शुद्धि आंदोलन और संगठन के समय तंजीम और तबलीग बनने की घटना को अपवाद माने तो किसी देवबंदी ने सांप्रदायिक संकीर्णता का न तो कभी समर्थन किया और न ही बढ़ावा दिया। देवबंद से शिक्षित किसी भारतीय मुस्लिम नेता ने कभी पाकिस्तान का समर्थन नहीं किया। आगे चलकर धार्मिक स्तर पर भी इसमें इतनी उदारता आयी कि इसने अलीगढ़ आंदोलन के प्रति भी नरम रुख रखा और मुसलमानों को कांग्रेस से जुड़ने की अपील की। इस संस्था को बुलंदियों तक ले जाने वाले महमूद-उल हसन शैखुल हिन्द ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय में अपनी ऐतिहासिक तहरीर पेश की।

दारूल उलूम की स्थापना के साथ ही इसके कुछ निश्चित निर्धारित उसूल थे लेकिन इसमें समय के साथ गतिशील परिवर्तन की एक मद्धिम गुंजाइश भी थी। इसके संस्थापक नानौवती साहब लड़कियों और औरतों के हक के बड़े हिमायती थी। उनका ही प्रयत्न और प्रभाव था कि सहारनपुर, मुजफ्फरनगर और बुंदेलखंड में उनकी सलाह पर अमल होता रहा। बेशक वे नैतिक मूल्यों को विशेष तरजीह देते थे उनकी शिक्षा थी कि बुराई को छोड़ने की आदत बन जानी चाहिए। दारूल उलूम को हनफी संप्रदाय का समर्थक माना जाता है। इसी संप्रदाय के धर्मशास्त्रीय शिक्षा केंद्र के रूप में इसकी ख्याति भी फैली। इसका उद्देश्य साफ था कि यह संस्था ऐसे सुशिक्षित उलेमाओं को तैयार करेगी जो नमाजी, कातिब, उपदेशक और अध्यापक के रूप में धर्मावलंबियों की धार्मिक पहचान को बनाए रख सके। उन्होंने और गंगोही साहब ने सायास इसके पाठ्यक्रम को आधुनिक विज्ञानों से दूर रखा। इसके पीछे उनका विश्वास था कि पारंपरिक विरासत को संरक्षित रखने और पारंपरिक इस्लामी सिद्धांत और जीवन में आये पतन को रोकने में ही समुदाय का हित संभव है। जाहिर था इसके पीछे तत्कालीन ब्रिटिश राज का हस्तक्षेप और ईसाई धर्म के प्रभाव का भय भी था। गंगोही साहब की अगुवाई में तर्कशास्त्र, दर्शन और विधिशास्त्र का विरोध भी हुआ था। बाद में शैखुल हिंद साहब के प्राचार्य बनने के बाद इसमें कई बदलाव और विकास हुए।

यह बात गौर करने वाली है कि दारूल उलूम मुसलमानों को उनकी इस्लामी पहचान के प्रति सचेत करने को लेकर ज़्यादा प्रयत्नशील था। लेकिन इसके साथ-साथ यह अघोषित मंशा भी दिख रही थी कि उलेमा इस्लाम की धार्मिक व्याख्या और इस्लामी शिक्षा के क्षेत्र विशेष में किसी तरह का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करेंगे। सरकार को चेताने का यह अंदाज़ प्रमुख नहीं था लेकिन यह औपनिवेशिक दबाव के प्रति एक प्रकार का प्रतिरोध ही था। दारूल उलूम की शिक्षा की जड़े कुरान और हदीस में थीं इसलिए सरकार भी नाजुक और संवेदनशील

मसले की उपेक्षा करके कोई सीधी कार्रवाई नहीं कर सकती थी। नानौवती और गंगोही साहब इस माध्यम से धार्मिक आचरण और रोज़-रोज़ की जिंदगी के तमाम पहलू का इस्लामीकरण चाहते थे। उनके सामने अशराफ मुसलमानों का कुलीन और मध्यवर्गीय तबका नहीं था। वे तो बहुसंख्यक पिछड़े और गरीब मुसलमानों का ख्याल रखकर चल रहे थे-यही कारण था कि उनके बीच देवबंद का दारूल उलूम एक रोशन और पोख्ता स्तंभ की तरह ख्यात हुआ।

जैसे-जैसे दारूल उलूम की शोहरत बढ़ती गयी, इसका प्रभाव बढ़ता गया इसकी ख्याति अफगानिस्तान, इराक, ईरान, तुर्की, सउदी अरब तक फैलती गयी। दूर-दूर के छात्र आने लगे और बड़े पैमाने पर लोगों का सहयोग भी मिलने लगा। लेकिन इसे अभूतपूर्व उत्कर्ष तब मिला जब इसके पहले छात्र मौलाना महमूदु-उल-हसन ने 1873 में पढ़ाई पूरी कर यही 1874-75 में शिक्षक बने। उन्हें मुहम्मद कासिम नानौवती और रशीद अहमद गंगोही जैसे लोगों से शिक्षा मिली थी। विद्वता, पवित्रता और स्वतंत्रता की भावना से वे लबरेज़ थे। बाद में 1887-88 में वे इसके प्राचार्य हुए और गंगोही साहब के इंतकाल के बाद संरक्षक बने। 1880 में नानौवती साहब के इंतकाल के बाद रशीद अहमद गंगोही प्रधान बने लेकिन मौलाना महमूदु-उल हसन ही प्रधानाचार्य थे आगे चलकर वे ही एक तरह से इस संस्था की पहचान बन गये। गंगोही साहब की 1895 में आंखों की रोशनी चली गयी और 1905 में उनका भी इंतकाल हो गया। अकेले बचे महमूदु-उल हसन साहब जैसे भी दारूल उलूम के संस्थापक सहयोगी जुल्फिकार अली के पुत्र थे। उनका जन्म बरेली में 1851 में हुआ था। उनके असाधारण ज्ञान, आचार और व्यवहार का गहरा असर पड़ा। वे छात्रों को पुत्रवत मानते थे। उनके ज्ञान की ख्याति अफगानिस्तान, ईरान, तुर्की, सउदी अरब और मिस्र तक फैली हुई थी। उनके दो छात्र मौलाना हुसैन अहमद मदनी और उबैदुल्ला सिन्धी तो भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के बड़े नायक बने। मौलाना महमूदु-उल हसन साहब ने सामासिक राष्ट्रवाद का एक ऐसा सिद्धांत विकसित किया, जिसमें इस्लाम पर यकीन करने वाले मुस्लिम दूसरी कौम से मिलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करें। उन्होंने 1878 में अपने छात्रों को लेकर थामरत-उल-तरबियात नामक एक क्रांतिकारी संस्था का गठन किया-जिसमें शामिल छात्रों को नानौवती साहब ने दीक्षित किया। वे देश के भीतर और बाहर दोनों जगहों पर सशस्त्र विद्रोह करना चाहते थे। उनके संगठन का केंद्र भले देवबंद था मगर उन्होंने इसकी शाखाएं दिल्ली, दानापुर, आमरौत, करनजी, खेड़ा और चकवल में भी स्थापित कर ली थी। उन्होंने पंजाब के सिक्खों और बंगाल के क्रांतिकारियों से भी संपर्क स्थापित कर सहयोग की अपील की थी। देवबंद में उनके लिए छिपने की एक जगह भी अलग से तय कर ली थी। सारी तैयारियां गुप्त

रूप से थीं। आबिद हुसैन और महताब अली चाहते थे कि यह सिर्फ शैक्षणिक संस्था ही रहे लेकिन नानौवती और शैखुल हिंद साहब चाहते थे कि इससे ऐसे छात्र तैयार हों, जो 1857 के नुकसान की भरपाई कर सकें। उन्होंने सैयद अहमद के कांग्रेस विरोध और बहिष्कार का भी खंडन किया और मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने इस्लाम के उसूलों का हवाला देकर मुसलमानों को राजनीतिक मामलों में अन्य समूहों और समुदायों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की गरज से प्रेरित किया। उन्होंने 1910 में अलीगढ़ और देवबंद के पूर्व छात्रों के बीच एक बृहत्तर बंधुत्व की ज़रूरत पर बल दिया, जिसका बड़ा ही सकारात्मक असर पड़ा। जब बंगाल विभाजन के बाद भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली ले जायी गयी उन्हीं दिनों आटोमन साम्राज्य के विरुद्ध ईसाई प्रांतों ने बालकन युद्ध छेड़ा। इसके तुरंत बाद ही प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया जिसमें तुर्की ने ब्रिटेन और मित्र देशों के खिलाफ जर्मनी का साथ दिया। महमूदु-उल हसन को लगा यही उपयुक्त समय है। वे बहुत उत्तेजित थे। सैयद अहमद का कहना था भारत के बाहर ब्रिटेन और मुसलमान आपस में क्या कर रहे हैं, इससे हमें मतलब नहीं रखना चाहिए, लेकिन महमूदु-उल हसन जमालुद्दीन अफगानी के सर्व-इस्लामाबाद के सिद्धांतों को मानने वाले थे। जमालुद्दीन अफगानी विस्फोटक और क्रांतिकारी विचारों वाले वेगवान व्यक्तित्व थे। वे सैयद अहमद के कटु आलोचक थे। वे चाहते थे दुनिया से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विनाश हो। वे हिंदुओं के साथ मिलकर अंग्रेज़ी सत्ता मिटाने का आह्वान कर रहे थे। उनका गहरा प्रभाव तमाम राष्ट्रवादी मुसलमानों व शिबली नोमानी, अबुल कलाम आज़ाद, इकबाल से हाली तक पड़ा था। देवबंद आंदोलन के पीछे उनकी प्रेरणा भी शामिल थी। वे सर्व-इस्लामवाद के लेनिन कहे जाते हैं। महमूदु-उल हसन उनसे गहरे प्रभावित थे। उसी प्रभाव और प्रेरणा में उत्साहित होकर उन्होंने दारूल उलूम के विद्यार्थियों को प्रेरित किया। जब बालकन-युद्ध चल रहा था वे रोज़ एक हदीस का पाठ करते, जो जेहाद संबंधित था। इससे छात्रों में उत्साह बढ़ जाता। उन्होंने ओबैदुल्ला को अफगानिस्तान भेजा कि वे अमीर हबीबउल्लाह को मदद के लिए राजी करें। मगर हबीबउल्लाह ने उल्टे ब्रिटिश सरकार से इन क्रांतिकारी गतिविधियों की चुगली कर दी। यह खबर महमूदु-उल हसन को भी मालूम हो गयी कि सरकार उन्हें गिरफ्तार कर लेगी। उसी समय मोख्तार अहमद अंसारी ने उनकी बड़ी मदद की और वे मक्का निकल जाने में सफल हुए। वे भारत सरकार के जहाज में छिपकर भागे थे। उनकी गिरफ्तारी सूचना जब तक जहाज के कप्तान को मिली वे साद द्वीप में उतरकर निकल गये थे। वे बहुत कष्ट झेलकर मक्का आए थे। वहां उन पर दबाव बनाया गया कि वे तुर्क कौम को काफिर घोषित करने वाले फतवे पर दस्तखत करें लेकिन संकट के

बावजूद उन्होंने इंकार कर दिया। वे फिर ईरान और अफगानिस्तान गये और वहां की सरकार को इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि अगर तुर्की सेना अंग्रेजों से युद्ध करने के लिए आए तो वे सहयोग करेंगे। 1914 में जब अफगानिस्तान में पहली स्वतंत्र भारतीय सरकार कायम हुई तो उसके राष्ट्रपति राजा महेंद्र प्रताप और विदेश मंत्री उबैदुल्ला सिंधी बने। महमूद-उल हसन शैखुल हिंद साहब जब 1915 में सदी अरब पहुंचे तो उन्होंने तुर्की सरकार से संपर्क साधा और भारत की आज़ादी में मदद मांगी। 1916 में हिजाज में उनकी मुलाकात तुर्की के अनवर पाशा से हुई जो वहां के रक्षामंत्री थे। वहीं दोनों में बातचीत हुई और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के खिलाफ एक गुप्त योजना बनी। इसी संबंध में उन्होंने उबैदुल्ला सिंधी को जो पत्र लिखा और सिंधी ने जो उत्तर लिखा-वह रेशमी रूमाल पर दर्ज था-जो आगे चलकर इतिहास में रेशमी रूमाल आंदोलन के रूप में प्रसिद्ध हुआ। संवादवाहक की गिरफ्तारी के बाद रेशमी रूमाल का भेद खुल गया। इससे यह बात अंग्रेजों को पता चल गयी और वे मक्का में गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें माल्टा टापू में रखा गया। अहमद हुसैन मदनी सहित उनके साथ तीन और शिष्य थे। इन सबको बंबई लाया गया जहां उन्हें जनवरी 1920 में रिहा कर दिया गया।

उसके बाद भी वे शांत नहीं बैठे। वे पीछे खिलाफत कमेटी के दफ्तर गये। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। उम्र भी अपना असर दिखा रही थी मगर आज़ादी का ऐसा बावलापन कि वे पूरे उत्साह से खिलाफत आंदोलन में लगे रहे। उसी दौरान वे अलीगढ़ विश्वविद्यालय में गये। वहां परिसर के भीतर अध्यापकों और छात्रों के बीच अपनी ऐतिहासिक तकरीर दी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की सहायता से चलने वाली इस संस्था को छोड़ने की भावुक अपील की। उन्होंने इसके विकल्प में एक नई संस्था, जो अपने संसाधन बिना सरकारी सहायता के जुटायेगी-जामिया मिलिया इस्लामिया में छात्रों और शिक्षकों को शामिल होने की अपील की। उन्होंने 29 अक्टूबर, 1920 को राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में जामिया मिलिया इस्लामिया की नींव रखी। उस अवसर पर उनकी ऐतिहासिक तकरीर को शब्बीर अहमद असमानी ने पढ़ा था। उन्होंने कहा कि... एक ऐसे स्वतंत्र विश्वविद्यालय की नींव रखी जाएगी, जो सरकारी सहायता नहीं लेगा और सरकारी हस्तक्षेप बरदाश्त नहीं करेगा तथा जिसका संगठन इस्लामी सिद्धांतों और आकांक्षाओं के आधार पर किया जाएगा...वे चाहते थे इससे निकले छात्र देश के अन्य शैक्षणिक संस्थाओं की अगुवाई करें। उन्हें उन्होंने खुद महसूस किया था कि दोनों शिक्षा-केंद्रों अलीगढ़ और देवबंध में घनिष्ठ संबंध ज़रूरी हो गया है। लेकिन ऐसा नहीं हुआ तो जामिया मिलिया जैसी संस्था बनानी पड़ी...उन्होंने अपनी इसी तकरीर में यह भी कहा था कि हमारे बुजुर्गों ने कभी कोई

विदेशी भाषा या विज्ञान सीखने पर प्रतिबंध नहीं लगाया था। लेकिन ईसाईयत के रंग में रंग जाने अथवा अपने धर्म या सहधर्मियों की निंदा करने पर सख्त एतराज़ जरूर जताया। इससे अच्छा तो अज्ञानी बन जाना बेहतर। जामिया मिलिया जैसी राष्ट्रवादी शैक्षणिक संस्था के उद्घाटन का जो गौरव उन्हें दिया गया-निःसंदेह उसके वे सबसे उपयुक्त हकदार थे।

उन्होंने दिल्ली के जमायतुला उलेमा के सम्मेलन की अध्यक्षता की। उसके 21 नवंबर, 1920 को समापन के समय अपनी तकरीर में मुस्लिम उलेमाओं का आह्वान किया कि वे साम्राज्यवाद के नापाक चंगुल से अपनी पवित्र भूमि की आज़ादी के लिए संघर्ष करते रहें। उन्होंने भारत के दोनों कौमों की एकता को आज़ादी के लिए ज़रूरी बताते हुए इसे मजबूत करने को कहा। उन्होंने कहा-“आपको जानना चाहिए कि अगर इससे विपरीत परिस्थितियां (एकता में कमी) होगी तो उससे भारत की स्वाधीनता का स्वप्न कभी भी सच नहीं हो पाएगा। नौकरशाही का शिकंजा हर दिन और कसता जाएगा और इस्लाम उसी प्रकार मिट जाएगा जैसे कोई काटा गया शब्द हो जाता है। इसलिए अगर भारत में हिंदू, मुस्लिम और बहादुर सिक्ख ये तीनों संप्रदाय मित्रता और शांति से रहेंगे तो मुझे नहीं समझ में आता कि कोई चौथी कौम-वह चाहे कितनी ही ताकतवर क्यों न हो-कैसे अपनी हिंसा और निरंकुश शासन द्वारा भारतीयों के समान आदर्शों को परास्त कर सकते हैं।” (नक्शे हयात-अहमद हुसैन मदनी पृष्ठ 33) इस तकरीर में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दोनों का सबसे बड़ा शत्रु अंग्रेज को कहा। उन्होंने कहा “कुछ शुबहा नहीं कि खुदा-ए-ताला ने आपके हमवतन और हिंदुस्तान की बहुसंख्यक जाति हिंदू को किसी-न-किसी तरह से आपके ऐसे पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति में आपका समर्थन बना दिया है और मैं इन दोनों संप्रदायों की एकता को बहुत ही हितकर समझता हूं।” (खिलाफत आंदोलन पृष्ठ 128) वे हमेशा भारत के विभिन्न संप्रदायों की एकता बनाये रखने की बात करते थे। शैखुल हिंद के इस जोरदार तकरीर के बाद पांच सौ उलेमाओं ने इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये, जिसमें सरकार से असहयोग करने, सैनिक-असैनिक नौकरियों को छोड़ देने की अपील थी। शेखुल हिंद साहब को माल्टा में ही गठिया जैसा घातक रोग हो गया था। देवबंध आने पर उनका चलना-फिरना मुश्किल था। कुछ समय के अंतराल के बाद ही इस महान नायक का इंतकाल हो गया। इस्लाम के उत्थान और भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इस सक्रिय विचारधारा की विरासत का दायित्व अब उनके योग्य शिष्य अहमद हुसैन मदनी के कंधों पर आ गया...

साभार : हंस
(जारी...)

शासकों द्वारा उपेक्षित शहीद शेर अली खां अफरीदी

अंग्रेज़ औपनिवेशिक शासकों के खिलाफ जनता के मुक्ति संघर्ष में अनगिनत शहीदों ने अपनी जान न्यौछावर की। इनमें से बहुत से आज देश की जनता के दिलों में अपना स्थान रखते हैं। परंतु बहुत से गुमनामी के अंधेरे में खो गए हैं। ऐसा ही एक नाम शेर अली खां अफरीदी का है जिन्होंने औपनिवेशिक शासकों के खिलाफ घृणा तथा गुस्से में तत्कालीन वायसराय लार्ड मेयो को मौत की नौद सुला दिया। शेर अली की इस साहसिक कार्रवाई की उपेक्षा अधिक विस्मयकारी इसलिए भी है कि वायसराय तत्कालीन इंडिया में अंग्रेज़ शासन का उच्चतम अधिकारी था तथा लार्ड मेयो औपनिवेशिक भारत में मारे गए एकमात्र वायसराय थे। 1857 के अखिल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के रजवाड़ों के सहयोग से पाशविक हिंसा के साथ कुचलने के बाद औपनिवेशिक शासकों ने जहां एक ओर विद्रोह की हर सुगबुगाहट तथा हर चिंगारी को बेरहमी के साथ कुचला वहीं दूसरी ओर देश की जनता की एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिए सांप्रदायिक विभाजन को गहरा किया। 1857 के सशस्त्र संग्राम के योद्धाओं की निर्मम हत्याएं, देश की औपनिवेशिक शासन से आज़ादी के लिए संघर्ष के इतिहास का भाग हैं। 1857 के बाद अंग्रेज़ शासकों ने अपने शासन के खिलाफ उठने वाली आवाज़ों को कुचलने के लिए अंडमान द्वीपसमूह पर जेल बनायी। 1789 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अंडमान के पूर्वी तट पर पोर्ट ब्लेयर की स्थापना की थी। अनेक ब्रिटिश सैनिकों के मलेरिया का शिकार होने के कारण 1796 में इसको खाली कर दिया। हिंदुस्तानी देशभक्तों को बिना मृत्युदंड दिये मार देने के लिए 1857 के बाद इसको चुना गया। साथ ही दूसरा मकसद इन कैदियों का इस्तेमाल स्थानीय आदिवासियों के खिलाफ करना था। अंग्रेज़ शासकों के अनुसार इन देशभक्तों को मृत्युदंड देना, उन्हें शहीद बनाना था पर अंडमान जेल जिसे कालापानी कहा जाता था, में बिना मृत्युदंड दिये उन्हें खत्म किया जा सकता था। उक्त जेल के ब्रिटिश प्रशासकों के कैदियों के प्रति अमानवीय व्यवहार की कोई सीमा नहीं थी। मामूली नियम तोड़े जाने पर सीधे मौत के घाट उतार दिया जाता था। ब्रिटिश शासक इस द्वीपसमूह का इस्तेमाल कर हिंद महासागर में अपने नौसैनिक अड्डे को मजबूत करना चाहते थे।

लार्ड मेयो 1869 में वायसराय बनकर भारत आए। उत्तर पश्चिम सीमा पर अंग्रेज़ शासन के खिलाफ जनता के विरोध को कुचलने के लिए उन्होंने नृशंस दमन का सहारा लिया। साथ ही कैदियों का मनोबल तोड़ने के लिए अंडमान जेल के प्रशासन को और सख्त बनाया। शासक तथा उनके हिंदुस्तानी चाटुकार लार्ड मेयो का गुणगान करते रहे यद्यपि उनके शासन में जनता पर दमन तेज़ किया गया। लार्ड मेयो ने उत्तर पश्चिम हिंदुस्तान में विद्रोह को जड़ से खत्म करने

का बीड़ा भी उठाया।

8 फरवरी 1972 को जब मेयो अंडमान यात्रा समाप्त कर वापस लौटने वाले थे, तो अंडमान में आजीवन कारावास की सज़ा काट रहे कैदी शेर अली खां अफरीदी द्वारा हमले में उनकी मृत्यु हो गयी। शेर अली ने रसोई चाकू से उन पर दो वार किये। मेयो पर हमला करने से पहले शेर अली ने तमाम जमा राशि से अंडमान जेल के कैदियों-हिंदुओं और मुसलमानों के लिए मिठाई तथा केक बनाए। इस तरह अपनी शहादत से पहले उन्होंने अपने साथियों को अलविदा कहा। मेयो पर हमला करने के बाद शेर अली ने वहां से भागने की कोशिश तक नहीं की। अंग्रेज़ शासकों ने शेर अली खां पर आनन-फानन में मुकदमा चलाकर फांसी दे दी। मुकदमे के रिकार्ड के अनुसार शेर अली के इस हमले को जिहाद बताया गया। दूसरी ओर अंग्रेज़ों के चाटुकार इसे व्यक्तिगत रंजिश से प्रेरित बताते रहे। मुकदमे के दौरान शेर अली ने अपने हमले को सितंबर 1874 में कलकत्ता में मुख्य न्यायाधीश नार्मन की हत्या से जोड़कर पेश किया। शेर अली खां ने हमले के लिए न तो अफसोस जाहिर किया और न माफी मांगी।

1857 के देशव्यापी सशस्त्र स्वतंत्रता संग्राम के बाद अंग्रेज़ औपनिवेशिक शासकों ने सांप्रदायिक विभाजन को गहरा करने के लिए औपनिवेशिक शासन के खिलाफ उक्त संग्राम को 'जिहाद' के हिस्से के रूप में चित्रित करना शुरू कर दिया, हालांकि बंगाल आर्मी के विद्रोही सैनिकों में हिंदुओं की संख्या अधिक थी। पूरे संग्राम को जिहादी षड्यंत्र चित्रित करने के पीछे औपनिवेशिक शासकों तथा उनके चाटुकारों का मकसद हिंदुओं और मुसलमानों के बीच खाई को गहरा करना था। शेर अली अफरीदी के साहसिक काम को भी उन्होंने जिहाद से प्रेरित बताया।

शेर अली खां अफरीदी की शहादत को अंग्रेज़ परस्त इतिहासकारों ने नज़रअंदाज़ किया। न तो भारत और न पाकिस्तान में शेर अली की शहादत को उचित सम्मान दिया गया। अंग्रेज़ औपनिवेशिक शासकों के साथ समझौता कर सत्ता हस्तांतरण के जरिये सत्ता में आए शासकों के लिए इस योद्धा की शहादत की क्या कीमत हो सकती थी? उन्होंने तो इस शहीद के बहादुराना काम को इतिहास से मिटा देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। शेर अली की शहादत उन अमर शहीदों की कुर्बानियों की एक कड़ी है जिन्होंने अंग्रेज़ों से आज़ादी की लड़ाई में अपनी जान दी। असली आज़ादी के लिए लड़ने वाली ताकतें शेर अली की शहादत को याद करती हैं।

साभार : प्रतिरोध का स्वर

जीएम बीजों की फसल उगाती सरकार

■ आशीष

जुलाई में पर्यावरण मंत्रालय की अनुवांशिक इंजीनियरिंग आकलन समिति (जीईएसी) ने धान, गेहूँ, गन्ना, बैंगन, कपास, सोयाबीन, सरसों, मटर, मक्का, मूंगफली, आलू, अरंडी, चना, ज्वार आदि 15 जी.एम. बीजों की खेतों में प्रयोग की अनुमति दी है। पर्यावरण मंत्री प्रकाश जावडेकर का कहना है कि ऐसा कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिला है कि जीएम बीजों का मनुष्य व पशुओं के स्वास्थ्य, पर्यावरण व भूमि पर कोई हानिकारक असर है।

भाजपा व मोदी ने चुनाव अभियान में ऐसी अनुमति देने का विरोध किया था, परंतु उनकी सरकार ने बेशर्मी के साथ यह अनुमति दे दी है। आरएसएस संगठन, स्वदेशी जागरण मंच व भारतीय किसान मोर्चा जो जीएम बीजों के विरुद्ध अभियान चला रहे थे, अब शांत हैं।

वैज्ञानिक समुदाय, किसान नेता व देशभक्त लोग इस अनुमति के दिये जाने से क्षुब्ध हैं। पहले उनके द्वारा किये गये विरोध के कारण सरसों व बैंगन के जीएम बीजों की खेतों में प्रयोग की अनुमति रद्द कर दी गयी थी। सुप्रीम कोर्ट में चल रही एक याचिका की सुनवाई के दौरान ऐसे प्रयोगों पर तब तक रोक लगा दी गयी थी जब तक कोर्ट द्वारा बनायी गयी तकनीकी समिति ऐसे प्रयोग करने के लिए निरीक्षण के मानदंड नहीं बना देती। निरीक्षण के मानदंड और समय-समय पर नियमित निरीक्षण का पैमाना स्थापित न होने के कारण ही संसदीय सलाहकार समिति ने भी इन पर रोक की संस्तुति की थी।

जीएम बीज क्या हैं?

पैदावार बढ़ाने के लिए किसान सदियों से अपनी फसल से चयनित अच्छे बीजों का जनन करते रहे हैं। तथा अच्छी नस्लों के बीच आपसी जनन प्रक्रिया अपनाकर फसल के विशिष्ट गुणों को बढ़ाते रहे हैं। परंतु यह आपसी जनन केवल करीबी नस्लों में संभव था। अब वैज्ञानिकों ने यह क्षमता विकसित कर ली है कि एक नस्ल के डीएनए के पूरे के पूरे अंश (जीन) किसी अन्य जीव के डीएनए में अभियंत्रण करके डाले जा सकते हैं। अनुवांशिक अंश के एक जीव से दूसरे जीव में इस तरह का हस्तांतरण कर जो बीज पैदा होता है उसे जीएम बीज कहते हैं। यह हस्तांतरण जानवरों से पौधों में और पौधों से जानवरों में भी किया जा सकता है, उदाहरण के लिए मछलियों से टमाटर में, मनुष्य से तम्बाकू में, बैक्टीरिया कीटाणु से मक्का, सोया, कपास में और वायरस से फलों में।

जीएम बीज की प्रेरणा

जीएम बीज पैदा करने की प्रेरणा के कारण बताए जा रहे हैं पौधों में रोग पैदा करने वाले कीटाणुओं को बाधित करना, प्रतिकूल पर्यावरण परिस्थितियों से मुकाबला करना, कीड़ों के विरुद्ध जहर पैदा करना, घास के विरुद्ध छिड़की जाने वाली दवाओं को सहन करने की क्षमता पैदा करना, फसल में पौष्टिक पक्ष बढ़ाना, पानी व मृदा की बचत की क्षमता बढ़ाना, फलों को लंबे समय तक बिना सड़े बचे रहने व ताज़ा नज़र आने की क्षमता बढ़ाना, पैदावार बढ़ाना आदि। उपरोक्त प्रचार कर इन बीजों की बिक्री बढ़ाई जा रही है। पर दुनिया भर में उनका मुख्य प्रचार है कि जीएम बीज सबको भोजन देने की समस्या हल कर देंगे।

जीएम बीज कंपनियों का एकाधिकार

जीएम बीजों की स्वीकार्यता 1994 से बढ़नी शुरू हुई जब देर से सड़ने वाला टमाटर पैदा किया गया। अमेरिका इन बीजों का सबसे बड़ा उत्पादक है और वहां की 4 कंपनियां, जिनमें मॉनसैन्टो भी है, कपास व सोया बीज बाजार के 80 व 70 फीसदी हिस्से पर काबिज़ हैं। मॉनसैन्टो दुनिया की सबसे बड़ी बीज कंपनी बन गयी है। कपास, फल व सब्जियों के बीज इनकी मुख्य पैदावार हैं। बीज पर अपना एकल प्राधिकार स्थापित करने और बीज के दाम के बढ़ने के साथ इन्होंने पूर्व में बिकने वाली गैर जीएम पारंपरिक बीजों को बाज़ार से बेदखल कर दिया है और खरीददार किसान के पास अब पहले से कम विकल्प बचे हैं। जिन कारणों से कुछ ही कंपनियों का बीज के बाज़ार में प्रभुत्व बढ़ा है, इस तरह के एकाधिकार के विरुद्ध कानून बहुत कमजोर हैं और कोर्टों ने ऐसे मामलों में कंपनी के पेटेंटों का अक्सर पक्ष लिया है। साथ में ये कंपनियां किसानों द्वारा अगले वर्ष के लिए बीज बचा कर रखने को बाधित करती हैं। एकाधिकार का एक कारण छोटी कंपनियों का बिक जाना भी है। इस एकाधिकार ने भारत समेत कई देशों में तबाही मचाई है। 1990 के दशक में आलू की एक नई नस्ल को वापस लेना पड़ा क्योंकि उसका बीज बहुत महंगा था।

जीएम बीज खाद्य संकट घटाते हैं या बढ़ाते हैं?

जीएम बीजों के संदर्भ में खाद्य संकट हल करने का दावा शायद सबसे बड़ा झूठ है। सबसे पहली बात तो यह है कि भूख मुख्यतः एक वर्गीय सवाल है। आज भी भूख का मुख्य कारण यह नहीं है कि दुनिया में खाने की कमी है। आज दुनिया के लोग अरबों की संख्या में भूख व कुपोषण के शिकार इसलिए हैं क्योंकि न तो

उनके पास भोजन खरीदने का पैसा है न ही उसे पैदा करने के लिए ज़मीन। आज दुनिया में पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त खाना मौजूद है। सच यह है कि यह गरीबों को नहीं दिया जाता है इसलिए सड़ जाने के बाद अथवा वैसे भी उससे जानवरों का भोजन तैयार किया जाता है या समुद्र में फेंका जा रहा है। यही नहीं, उससे बड़ी मात्रा में शराब व अन्य ईंधन भी पैदा किये जा रहे हैं।

वास्तव में जीएम बीज खाद्य का संकट बढ़ा रहे हैं। जीएम बीज पैदा करने की योजना मूलतः बहुराष्ट्रीय कंपनियों की योजना है जिनमें कुछ ही कंपनियों का वर्चस्व है वो भी अमरीकी कंपनियों का। मॉनसैन्टो का जीएम बीजों से फसल की पैदावार ज़्यादा होने का दावा बहुत से बीजों में गलत साबित हुआ और बीटी कॉटन आदि का उत्पादन कई प्रयोगों में पारंपरिक बीजों के लगभग बराबर पाया गया। दूसरा पहलू यह है कि जीएम बीज ज़्यादातर व्यावसायिक फसलों में लाए जा रहे हैं। इन व्यावसायिक फसलों की पैदावार बढ़ने से मूल अनाज के पैदावार का क्षेत्रफल घट रहा है। तीसरा पहलू यह है कि ये बीज इतने महंगे हैं कि भारत जैसे देश में यह किसानों, विशेषकर छोटे किसानों के लिए अलाभकारी हैं। इन बीजों का पुनः प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। भारत में इन बीजों को सस्ता करके उपलब्ध कराने की कोई सरकारी योजना नहीं है और कंपनियों पर महंगे दाम की पाबंदी लगाना तो सरकार की फितरत में ही नहीं है। बल्कि इसके उलट नई आर्थिक नीतियों ने कृषि अर्थतंत्र को इस तरह पुनर्गठित कर दिया है कि सरकार किसानों को कुछ सस्ती ब्याज दर पर, कुछ समय के लिए, केसीसी के माध्यम से, उनकी ज़मीनें गिरवी रखवाकर उधार दिलवा रही हैं जिससे कंपनियों के बीज बिक रहे हैं पर उसका आर्थिक लाभ गरीब किसान तक पहुंचने की कोई गारंटी नहीं है। कंपनियों के बीज की गुणवत्ता पर भी कोई नियंत्रण नहीं है। इस सबके चलते बड़े पैमाने पर किसानों पर कर्ज़ का बोझ बढ़ गया है, ज़्यादातर खेत गिरवी रखे हैं, किसान ज़्यादा बड़े पैमाने पर ज़मीन से बेदखल हो रहे हैं और आत्महत्याएं कर रहे हैं। उनकी बीज खरीदने, खेती करने में आत्मनिर्भरता घट रही है।

इस दौर में सरकार ने निजी बीज एजेंटों व किसानों के बीच भावी खरीद के सौदों को भी बढ़ावा दिया है जिसमें किसान फसल के पूर्व निर्धारित दाम पर उसे एजेंट को बेचने का सौदा कर लेता है और बीज प्राप्त करता है। ये शर्तनामे हमेशा किसान के विरुद्ध जाते हैं विशेषकर छोटे व बटाईदार किसानों के जिन्हें खाद्य सुरक्षा की सबसे ज़्यादा आवश्यकता है। इस प्रक्रिया में कंपनियां न केवल दाम तय करती हैं, वे यह भी तय करती हैं कि कौन सा बीज उपलब्ध कराया जाए। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जीएम बीजों का वास्तविक लाभ बड़े पैमाने पर कंपनियों द्वारा की जाने वाली खेती को होता है जो इन बीजों से अपना मुनाफा बढ़ाने की क्षमता रखें। दूरगामी दृष्टि से जीएम बीज व्यापक कृषि क्षेत्रों में फसलों का चरित्र बदल कर व लागत के दाम बढ़ाकर गरीबों की खाद्य सुरक्षा के विपरीत

परिस्थिति पैदा करते हैं।

जीएम बीजों के विरोध करने के अन्य कारण

1. जो नया जीन (अनुवांशिक अंश) किसी दूसरे बीज के डीएनए में डाला जाता है वह पराग के वितरण प्रक्रिया से प्रकृति की अन्य फसलों में प्रवेश कर जाता है और इन नई फसलों में इसके गुणों की अभिव्यक्ति भिन्न व अनिश्चित हो जाती है। कभी-कभी यह अभिव्यक्ति उस जीव के लिए हानिकारक भी हो सकती है। चूहों में जब शरीर की वृद्धि का जीन डाला गया तो बहुत बड़े आकार के चूहे पैदा हुए पर यही जीन जब सूअर में डाला गया तो इससे पैदा हुए सूअर जोड़ों की बीमारी, भैंगी आंखों व खराब चमड़े के साथ पैदा हुए। इसी तरह पेटूनिया के फूल में लाल रंग का तत्व घुसाया गया तो फूल तो लाल हो गया पर जड़े व पत्तियां कमज़ोर हो गयीं।

2. अनिश्चित जीन गुण की प्रस्तुति से स्वास्थ्य जोखिम : इस तरह की अनिश्चित अभिव्यक्ति के कारण कई बार एक खाद्य पदार्थ से जिन लोगों को एलर्जी होती है वह तत्व दूसरे खानों में पहुंच जाने से यह एलर्जी उन खानों से भी उत्पन्न हो सकती है। अनुवांशिक तत्वों में इस तरह से हो रहे प्रदूषण के कारण एलर्जी के शिकार लोग खाद्य सामग्री के प्रति सतर्कता बरतने में चूक कर सकते हैं। यह पहलू इस मांग का भी कारण है कि हर जीएम बीज पर उसके स्रोत की जानकारी लेबल चस्पा करके दिया जाए। इसमें दूसरा जोखिम यह भी है कि जो जीएम बीज के फल व सब्जी ज़्यादा ताज़े नज़र आते हैं उनमें पौष्टिक तत्व कमज़ोर हो सकता है।

3. अनुवांशिक तत्व का आसपास की घासों में प्रसार का यह असर हो सकता है कि जो जीन पैदावार बढ़ाने से संबंधित हो वह घास में घुसकर बड़ी घास पैदा कर दे। इसी तरह से जो बीटी जीन कपास में कीड़े मारने के लिए घुसाई गयी उसने बहुत सारे लाभकारी कीड़ों को भी मार दिया जैसे मधुमक्खियों व तितलियों को। इस तरह के मरे हुए कीड़ों का प्रतिकूल असर पक्षियों पर भी आ सकता है। जो जीएम फसलें घास मारने की दवा को सहने की क्षमता के तत्व से पोषित की जा रही हैं उनसे एक नुकसान यह भी है कि क्योंकि वह घास मारने की दवा को ज़्यादा सह सकती हैं इसलिए घास मारने की दवा ज़्यादा मात्रा में प्रयोग की जाएगी जिसका असर फिर उन फसलों को खाने वाले तथा कीड़ों/पक्षियों पर आएगा। इस तरह की कुछ दवाइयों का प्रतिकूल असर जानवरों, मछलियों व मनुष्यों पर दिखा है और इनमें कुछ कैंसर भी है। इस पहलू का एक और नुकसान यह है कि दवा का प्रयोग बढ़ाने ने घास हटाने के अन्य तरीकों व वैज्ञानिक प्रयोगों को समाप्त कर दिया है।

अनुमति देने से पहले सुरक्षित परीक्षण व बिल्ला चस्पा करने पर बहस

अमेरिका में करीब 35 जीएम फसलें पंजीकृत हैं। वहां के कानून में इनकी खाद्य सुरक्षा के परीक्षण व इन पर सूचना चस्पा करने की कोई बाध्यता नहीं है। कंपनियां खुद तय करती हैं कि वे इस विषय पर क्या करेंगी। सरकार की भूमिका तभी आती है जब नए

व पुराने बीज में भारी अंतर मिले।

भारत में विरोध का आधार

भारत में उपरोक्त सभी तर्कों के आधार पर जीएम बीजों का विरोध किया गया है, खासतौर से ये बीज बहुत महंगे होने, कंपनियों का बीज बाज़ार पर पूरा कब्जा होने और इनके द्वारा उत्पादकता बढ़ाने के दावे संदिग्ध होने के कारण। बीज व अन्य संबंधित लागत बहुत महंगे होने और उत्पादकता के अनिश्चित होने के कारण भारत में बड़े पैमाने पर किसान आत्महत्या करने पर मजबूर हुए हैं। विरोध का एक और बड़ा कारण यह भी है कि भारत के सीधे-सादे किसान आसानी से कंपनियों के भ्रामक प्रचार का शिकार हो जाते हैं और धोखेबाजी के मामलों में कोई कानूनी व सरकारी बचाव की गारंटी नहीं है। इसके विरोध का एक बड़ा कारण यह भी है कि जीईएसी ने जिन आंकड़ों व तथ्यों के आधार पर इनके प्रयोग की अनुमति दी है वे सभी आंकड़े व तथ्य इन कंपनियों द्वारा ही पेश किये गये हैं और अभी तक भारत में इन बीजों के खेतों में प्रयोग का मूल्यांकन करने का कोई स्वतंत्र प्राधिकरण नहीं है। वैसे भी वैज्ञानिक मापदंड मांग करते हैं कि इन बीजों के प्रयोग से पहले, उस खेत के चारों ओर 20 फीसदी क्षेत्रफल में कोई और फसल नहीं होनी चाहिए और प्रयोग से पहले ही उसकी सुरक्षा व प्रयोग के मापदंड तय किये जाने के बाद प्रयोग की अनुमति दी जानी चाहिए।

भारत का बीज बाज़ार और सरकार का अधूरा पारित बीज बिल 2011

भारत में किसान घरेलू बीज व अदला-बदली द्वारा प्राप्त बीज का प्रयोग करते रहे हैं, पर पिछले कई दशकों से बीज बाज़ार विकसित हुआ है। 2003-04 में निजी क्षेत्र 62 लाख कुंतल बीज पैदा करता था जबकि सार्वजनिक क्षेत्र 69.5 लाख कुंतल। 7 साल बाद यह 109 व 171 लाख कुंतल हो गया, यानी अब भी ज़्यादा उत्पादन सरकारी क्षेत्र में है। पर निजी क्षेत्र की बिक्री का मूल्य सरकारी क्षेत्र से कहीं ज़्यादा है क्योंकि इनका जोर हाईब्रिड बीजों व सब्जियों फलों के बीजों पर रहा है। बाज़ार का तीन चौथाई हाईब्रिड बीज निजी क्षेत्र से आता है और हाईब्रिड बीज को हर साल बाज़ार से खरीदने का प्रचलन स्थापित है हालांकि इनसे पैदा किये गए कई बीज 3-4 साल तक पुनः प्रयोग किये जा सकते हैं। अगर देश की कुल बुआई में अच्छी गुणवत्ता के 25 फीसदी बीज हर साल नए खरीदे जाएं तो देश के वार्षिक बीज बाज़ार की आवश्यकता अनाज में 36.4 लाख कुंतल होगी, दलहन में 7.8 लाख कुंतल, रेशे वाली फसलों में 12.7 लाख कुंतल। यदि 33 फीसदी बीजों को हर साल नया बदला जाए तो यह आवश्यकता अनाज की 112.4 लाख कुंतल हो जाएगी और रेशे वाली फसलों का 17.7 लाख कुंतल। अगर हर साल सारा बीज नया खरीदा जाए तो अनाज में कुल आवश्यकता 587.9 लाख कुंतल होगी, तिलहन में 102.6 लाख कुंतल, जूट में 56.9 लाख कुंतल और कपास में 1.4 लाख कुंतल।

सरकार द्वारा प्रस्तुत नया बीज बिल 2004, 2008 व 2010

में संशोधन होने के बाद राज्य सभा की स्वीकृति के लिए पड़ा हुआ है। इस इतने बड़े बीज बाज़ार पर कब्जा करने के लिए कंपनियों लालायित हैं और प्रस्तावित कानून इस बात को भी परिभाषित नहीं करता कि बीज की गुणवत्ता का क्या पैमाना होना चाहिए। न ही इस कानून में कीमतों को नियंत्रित करने का कोई प्रावधान है। कानून में फर्जी बीज, गलत सूचना देना, गलत ब्रांड पर बेचना, आदि को अपराध माना गया है पर कानून अमल करने वाला ढांचा जितना जर्जर है उससे किसानों को कोई उम्मीद नहीं हो सकती।

चर्चा

मॉनसेंटो का दावा है कि उसके जीएम बीज खाद्य सुरक्षा के रूप में 59 देशों में प्रयोग के बाद सही पाए गए हैं। यह सभी परिणाम नकारात्मक निष्कर्षों के आधार पर, यानी कोई स्वास्थ्य समस्या नहीं पायी गयी, दिये गये हैं। रोचक बात यह है कि इनमें से बहुत सारे अध्ययनों ने कहा कि पौष्टिक गुणवत्ता के आधार पर जीएम बीज गैर जीएम बीजों के बराबर है। मॉनसेंटो का तर्क है कि अगर जीएम व गैर जीएम फसल एक जैसी हैं और उस जीएम बीज में डाली गयी जीन से पैदा होने वाले प्रोटीन तत्व सुरक्षित पाए गए हैं तो उससे कोई स्वास्थ्य संकट उत्पन्न नहीं हो सकता। यह कंपनियां नहीं चाहती कि इस तरह के बीजों का कोई दीर्घकालीन मूल्यांकन प्रकृति, पर्यावरण व मानव उपभोग के आधार पर किया जाए। इनका तर्क है कि अगर कोई महत्वपूर्ण फर्क नज़र आएगा तभी ऐसा प्रयोग किया जाए, वरना इन्हें बाज़ार में बिकने की खुली छूट दी जाए। यूपीए-1 व यूपीए-2 सरकारों ने भी यही तर्क दिये थे और अब भाजपा भी यही तर्क दे रही है।

सवाल यह है कि जब इन बीजों की वैज्ञानिक प्रमाणिकता पर इतने सारे प्रश्न हैं- पर्यावरण पर, पारिस्थितिकी पर, मानव व पशु स्वास्थ्य पर, नए किस्म की हानिकारक वनस्पतियों के उत्पन्न होने पर, तो इनके प्रयोग व बिक्री को अनुमति क्यों दी जा रही है? सिर्फ इसलिए कि कंपनियां कह रही हैं। क्या देश की खाद्य सुरक्षा को हल करने का यही सबसे आसान रास्ता है वह भी तब जब हम आज भी अपनी पूरी जनसंख्या को खिलाने लायक से अधिक अनाज पैदा कर रहे हैं। क्या हमें सबसे पहले उसके पुनर्वितरण पर जोर नहीं देना चाहिए? क्या हमें इस तथ्य पर गौर नहीं करना चाहिए कि आज की पिछड़ी खेती, बहुत सारी ज़मीन सामंतों के कब्जों में कैद होने, विशाल बहुमत के पास खेती लायक ज़मीन न होने, भारी वर्षा के बावजूद सिंचाई की मुकम्मल व्यवस्था न होने, समय पर बीज व अन्य लागत सामग्री उचित दाम पर उपलब्ध न होने और बिक्री की गारंटी न होने के बावजूद हम पर्याप्त खाद्यान्न पैदा कर रहे हैं, तो अगर उपरोक्त व्यवस्था कर दी जाए तो वैसे भी हमारी पैदावार दो से चार गुना बढ़ जाएगी। इससे निश्चित ही देश की खाद्य सुरक्षा की गारंटी भी होगी और हम जीएम बीजों के संभावित जैविक व आर्थिक खतरों से बचेंगे। यही देश हित में है।

साभार : प्रतिरोध का स्वर

टिकाऊ विकास और हमारा लोकतंत्र

■ डॉ. सुनीत सिंह

वर्ष 2009 में जब अर्थशास्त्र का नोबल पुरस्कार अमेरिकी अर्थशास्त्री एलीनोर ऑस्ट्राम को दिया गया तो ऐसा माना जाने लगा कि दुनिया के विभिन्न देशों के नीति निर्माताओं को साझा परिसम्पत्तियों के विकास के लिए सामुदायिक प्रबंधन की श्रेष्ठता को स्वीकार करने में अब किसी प्रकार का संकोच नहीं होगा। ऑस्ट्राम ने आठ सिद्धांतों के माध्यम से प्रतिपादित किया कि साझा परिसम्पत्तियों का सर्वश्रेष्ठ तरीके से रख-रखाव समुदाय आधारित प्रबंधन ही है। उन्होंने बताया कि यदि परिसम्पत्ति का उपयोग करने वाले लोग ही उसके रख-रखाव व विकास का सुस्पष्ट नियम बनाये, उसे लागू करें, उसमें वांछित संशोधन करें, उल्लंघन की दशा में दंड का प्रावधान करें तथा इसके साथ-साथ सरकारी विभागों द्वारा उन नियमों को मान्यता दी जाए एवं उन्हें क्रियान्वित करने में समुदाय को सहयोग प्रदान किया जाए तो सामुदायिक परिसम्पत्तियों का टिकाऊ विकास संभव है। जहाँ तक हमारे देश का सवाल है, प्राकृतिक संसाधनों के संदर्भ में ये विचार एकदम से नयी बात नहीं है। हमारे संविधान के नीति निर्देशक तत्वों के अंतर्गत धारा 39 (ख) में स्पष्ट रूप से उल्लेख है राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करे कि समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बँटे जिससे सामूहिक हित की सर्वोत्तम रूप से पूर्ति सुनिश्चित हो सके।

संविधान की भावना साफ है कि सामूहिक हित को सर्वोपरि रखते हुए सामुदायिक परिसम्पत्तियों का उपयोग किया जाना चाहिए तथा योजनाएँ तैयार करने की प्रक्रिया से समुदायों को जोड़ा जाए। संविधान के 73वें व 74वें संशोधन के माध्यम से उपर्युक्त विचार के क्रियान्वयन की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। मंशा यह थी कि सामूहिक हित के लक्ष्य को पाने के लिए सुदूर क्षेत्रों में समुदायों को ग्राम सभा एवं नगरपालिकाओं के माध्यम से स्थानिक योजनाएँ बनाने का अधिकार दिया जाए। लेकिन हमारे देश के शासन और प्रशासन में बैठे लोगों को 73वें व 74वें संविधान पारित होने के दो दशक बाद भी जनता के विवेक एवं प्रबंधकीय क्षमता पर भरोसा करने में संकोच हो रहा है। उन्हें लगता है कि गाँव के कम पढ़े लिखे गरीब-गुरबा किसी बात के लिए नियम-कानून, योजनाएँ एवं कार्यक्रम भला कैसे बना

पाएँगे, लागू करना तो दूर की बात है। उनका मानना है कि विधि-विधान की रचना में तमाम ऐसे पेंचीदा सवाल हल करने पड़ते हैं जिसकी जानकारी सामान्य जन को नहीं होती। नीति-निर्माताओं की इसी सोच के कारण भारतीय जनतंत्र एक कठिन दृढ़ के दौर से गुज़र रहा है। एक ओर तो 73वाँ व 74वाँ संविधान संशोधन लागू कर और सभी प्रदेशों में उसके अनुरूप पंचायती राज कानून में बदलाव लाकर जनता की सत्ता को महिमामंडित किया गया। तमाम तरह के अगर-मगर के साथ यह ढिंढोरा पीटा गया कि गाँवों में ग्राम समाज को भूमि, तालाब, चारागाह, बाज़ार, स्कूल, खेल के मैदान, कब्रिस्तान या श्मशान, सड़क, पेयजल एवं सिंचाई के स्रोत, बांध व पुलिया आदि का रख-रखाव एवं विकास से जुड़ी योजनाएँ ग्राम सभाएँ बनाएंगी। लेकिन दूसरी ओर कानून के इन प्रावधानों को पूरी तरह से अनदेखा करके केंद्र व राज्य सरकारों की ये गतिविधियाँ न तो कानून सम्मत हैं और न ही जन भावनाओं के अनुरूप। सम्प्रभु सत्ता एवं लोकहित के नाम पर राज्य एवं केन्द्र की सरकारें ग्राम सभाओं की आवाज़ को दबाने में कोई गुरेज नहीं कर रही हैं।

अब कनहर बाँध परियोजना का ही उदाहरण ले लें। उत्तर प्रदेश में सोनभद्र जिले की दुद्धी तहसील में कनहर नदी पर बनने वाले इस बाँध की विनाशलीला से तीन राज्यों के लगभग 80 गाँव डूबेंगे जिनमें अकेले छत्तीसगढ़ के 16 गाँव हैं। कनहर बाँध परियोजना का उद्घाटन आपातकाल के दौरान 6 जनवरी, 1976 को उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री नारायणदत्त तिवारी ने किया था। उसके बाद वर्ष 2011 में इसका दुबारा उद्घाटन तत्कालीन मुख्यमंत्री मायावती द्वारा किया गया। फिर नवम्बर 2012 में प्रदेश के सिंचाई मन्त्री शिवपाल यादव ने तिवारा इसका उद्घाटन किया। इस प्रस्तावित बाँध का कुल जलक्षेत्र 2000 वर्ग किलोमीटर है। इस बाँध के बनने से लगभग 60 हजार ग्रामीण, खेतिहर और आदिवासी आबादी विस्थापित होगी। इसके चलते अकेले छत्तीसगढ़ में 32 हजार लोग विस्थापित होंगे।

विकास के नाम पर चलायी जा रही कनहर बाँध परियोजना से गाँव के गाँव नष्ट हो जाएंगे। यह बात ध्यान

देने की है कि जो गाँव नष्ट हो रहे हैं उनकी पंचायतों और ग्राम सभाओं ने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित कर रखा है कि उन्हें बाँध की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी सरकार यह बाँध बनाने पर तुली हुई है। यह देश के बुनियादी लोकतंत्र पर सीधा हमला है। केंद्र सरकार या राज्य सरकारों को भारतीय संविधान ने यह हक बिल्कुल नहीं दिया है कि वे स्थानीय लोगों द्वारा चुनी गयी पंचायतों यानी स्थानीय सरकारों द्वारा पारित उन संकल्पों की अवहेलना कर दें जो लोगों के बीच से सर्वानुमति के द्वारा उभरकर सामने आए हों। उन्हें यह हक कहाँ से मिल गया है कि वे ग्राम पंचायत के साथ-साथ पूरी ग्राम सभा के लोगों को ही उजाड़ सकती हैं? लेकिन उत्तर प्रदेश की सरकार कई ग्राम पंचायतों व ग्राम सभाओं और ग्राम समाजों को विस्थापित करने जा रही है जबकि भारतीय संविधान की मूल भावना है कि गाँव लोकतंत्र की बुनियादी इकाई है। वह स्वयं में सम्प्रभुता, सम्पन्न, स्वशासी और नीति निर्धारक गणतंत्र हैं। 73वें संविधान संशोधन के बाद ग्राम पंचायतों की वही संवैधानिक स्थिति है जो केंद्र में संसद की और राज्य में विधानसभाओं की है। इस संवैधानिक व्यवस्था के तहत अपनी योजनाएँ बनाने, उन्हें लागू करने तथा अपने क्षेत्र में विद्यमान भौतिक एवं प्राकृतिक संसाधनों का नियंत्रण और प्रबंधन करने में वे स्वतंत्र हैं।

वास्तव में यह हो रहा है कि बढ़ते शहरीकरण और अस्पष्ट औद्योगिकरण के दबाव में राज्य एवं उसके तमाम अभिकरण स्थानीय स्वशासन की इकाइयों का गला घोटने पर आमादा है। वे इस सत्य को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं कि स्वशासी निकाय की ये इकाइयाँ अब संवैधानिक संस्थायें बन गयी हैं और महज कानून की निर्मित नहीं रह गयी हैं। संविधान निर्माताओं का यह सपना था कि स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के साथ तालमेल बिठाकर राज्य एवं केंद्र सरकारें 'राज्य' भारत के नागरिकों को स्वतंत्रता, स्वशासन, बेहतर जीवन एवं स्वस्थ परिवेश के लिए योजनाएँ बनाएगा और लागू करेगा। ऐसा होने पर ही हम लोकसत्ता एवं भागीदारी के महान लक्ष्य को हासिल कर सकेंगे।

जिला योजना समितियों की भूमिका :

यहाँ यह बताया जाना ज़रूरी है कि स्थानीय स्वशासन एवं विकेंद्रीकृत नियोजन के माध्यम से आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के संतुलन को सुनिश्चित करना हमारी संवैधानिक वचनबद्धता है। हमारे संविधान में विकेंद्रीकृत एवं सहभागी नियोजन के लिए एक सोची-समझी प्रणाली की

व्यवस्था दी गयी है, जिसमें जिला योजना समिति की केंद्रीय भूमिका है। इस दृष्टि से संविधान की धारा 243यच को पढ़ा जाना समाचीन होगा जिसमें जिला योजना समिति और उसके कार्यों के बारे में उल्लेख किया गया है। उक्त धारा में स्पष्ट लिखा है कि प्रत्येक राज्य में जिला स्तर पर एक जिला योजना समिति का गठन किया जाएगा। इन समितियों का दायित्व होगा कि अपने जिले की पंचायतों और नगर पालिकाओं द्वारा तैयार की गयी योजनाओं का समेकन करके संपूर्ण जिले के लिए एक विकास योजना प्रारूप तैयार करें। विकास योजना का प्रारूप तैयार करते समय समिति जिले में उपलब्ध वित्तीय या अन्य संसाधनों की मात्रा व प्रकार को ध्यान में रखेगी। संविधान में स्पष्ट दिशा निर्देश है कि योजना का प्रारूप तैयार करते समय जिला योजना समिति पंचायतों एवं नगर पालिकाओं के बीच सामंजस्य बनाये रखने पर विशेष ध्यान देगी। ये चार विशेष जिनका उल्लेख संविधान में किया गया है, - (i) स्थानिक योजना; (ii) जल तथा अन्य भौतिक और प्राकृतिक संसाधनों में हिस्सा बांटना; (iii) आधारभूत संरचना का एकीकृत विकास और (iv) पर्यावरण संरक्षण। सहभागी एवं विकेंद्रीकृत नियोजन की आधारशिला के तौर पर संविधान में उल्लिखित इस अति महत्वपूर्ण उपबन्ध को नीति निर्माताओं द्वारा पूरी तरह से अनदेखा किया जा रहा है।

यहाँ एक बिन्दु पर विचार किया जाना ज़रूरी है। केंद्र में स्थापित सरकारों ने एक गैर-संवैधानिक संस्था-योजना आयोग को इतना महत्व दे दिया कि उनके समक्ष जिला योजना समितियाँ, जो कि संवैधानिक इकाइयाँ हैं एकदम बौनी होकर रह गयी हैं। इसका निहितार्थ यह है कि देश में विद्यमान भौतिक एवं प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का अधिकार केन्द्रीय सत्ता ने बहुत सोची समझी साजिश के तहत गांव और जिला के नियोजनकर्ताओं के हाथ में जाने ही नहीं दिया। ये कैसा लोकतंत्र है, सोचने की बात है।

यह बहुत अफसोस की बात है कि शहरी एवं ग्रामीण विकास के बीच सामंजस्य बैठाने के बजाय शहरी विकास को तरजीह देना नीति निर्माताओं की सोच की परिधि तय कर रहा है। इसी प्रकार भौतिक एवं प्राकृतिक संसाधनों का गाँव व शहर के सामान्य हित में संतुलित दोहन किया जा रहा है। ये दोनों बातें टिकाऊ विकास की अवधारणा पर ही पानी फेरती हैं। यदि इसे रोका नहीं गया तो विनाशकारी विकास के गर्त में गिरने से हमें कोई नहीं बचा सकता।

जमीन किसी की विकास किसी का

■ विनोद कुमार

मोदी ने आखिरकार मन की बातें कह दीं, इस अंदाज से मानो वे किसानों के सबसे बड़े खैरखाह हैं। प्रस्तावित भूमि अधिग्रहण कानून पर जैसे बहस तो देशव्यापी चल रही है, टीवी चैनलों से लेकर प्रिंट मीडिया तक। लेकिन मूलभूत सवाल सिरे से नदारद नजर आता है। मसलन, भूमि भी एक अचल संपत्ति ही है। संविधान किसी को यह अधिकार नहीं देता कि किसी की संपत्ति को जब्त कर ले। जिंदल, मित्तल, अदानी, अंबानी सहित देश के कॉर्पोरेट घरानों के पास अकूत संपत्ति है। लेकिन कभी भी ऐसा नहीं सुनने में आया कि राष्ट्रहित के नाम पर उनकी संपत्ति का अधिग्रहण हो गया हो। सहारा-शीर्ष ने गरीब जनता का पैसा ठगी से इकट्ठा कर विशाल साम्राज्य खड़ा कर रखा है। यह बात देश और अदालत के सामने शीशे की तरह साफ है, बावजूद इसके अदालत को भारी मशक्कत करनी पड़ रही है कि उनकी संपत्ति को नीलाम कर या किसी अन्य तरीके से गरीबों को पैसा लौटाया जाए।

लगभग तमाम चर्चित औद्योगिक घराने बैंकों की विशाल धनराशि, जिसका बड़ा हिस्सा सर्वसाधारण की ही बचत से बैंकों में इकट्ठा होता है, दबाए बैठे हैं। लेकिन उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं होती, उल्टे 'बुरे ऋण' (बैड डेब्ट) के नाम पर समय-समय पर उन्हें माफ कर दिया जाता है। फिर आप किसी गरीब की जमीन, जो उसके जीवन का आधार है, को कैसे बिना उसकी मर्जी के जब्त कर सकते हैं? पांचवीं, छठी अनुसूची के बाहर की जमीन तो उनकी मर्जी से कोई भी खरीद सकता है। फिर ऐसे किसी कानून की जरूरत क्यों आन पड़ी?

सवाल यह भी है कि यह सब विकास के नाम पर होता है। क्या विकास में जनता की भागीदारी जरूरी नहीं? आप तथाकथित विकास के नाम पर जो भी योजनाएं बनाते हैं, क्या उनके बारे में जनता को अपनी राय व्यक्त करने का अधिकार नहीं? गांव में तालाब बने, नहर बने, सड़क या पुलिया, इसमें गांव वालों की राय जरूरी नहीं? ये खुदाई फौजदार कौन हैं जो दिल्ली में बैठ कर गांव-घर की योजनाएं बनाते हैं? और अगर पिछले साठ-पैंसठ वर्षों में इस तरह से बन रही योजनाओं से गांवों का, आम आदमी का कोई भला हुआ होता, तो भी कोई बात होती, लेकिन जो हाल है आम आदमी का, वह किसी से छिपा नहीं।

बहुत-से लोग यह तर्क देते हैं कि उद्योग-धंधा बढ़ेगा तो रोजगार मिलेगा। कभी इस तथ्य का मूल्यांकन हुआ कि अब तक जो उद्योग-धंधे विकसित हुए, उनसे संगठित क्षेत्र में कितने

रोजगार का सृजन हुआ? जो वास्तव में भूमि अधिग्रहण से उजड़े, विस्थापित हुए, उस समुदाय विशेष से कितने लोगों को नौकरी मिली? क्या मोदी सरकार के पास कोई रूपरेखा है कि आने वाले दिनों में निजी क्षेत्र में कितने नियमित रोजगार का सृजन होने वाला है? यह सवाल मौजूं इसलिए है, क्योंकि रोजगार पैदा करने वाले सार्वजनिक उद्योगों में रोजगार निरंतर सिमटता जा रहा है। मसलन, बोकारो इस्पात संयंत्र में शुरुआती दौर में बावन हजार लोगों को नियमित रोजगार मिला था, वहां अब महज बीस-बाईस हजार कर्मचारी रह गए हैं। निजी क्षेत्र की टिस्को में किसी जमाने में बीस हजार कर्मचारी कार्यरत थे, अब चार-पांच हजार रह गए हैं। नई तर्ज की कंपनियां तो सिर्फ टेक्नोक्रेट और बाबू किस्म के लोगों को नियमित रोजगार देती हैं। शेष काम तो ठेका श्रमिकों से कराने के चक्कर में रहती हैं।

आइए हम प्रधानमंत्रीजी के मन की बातों के आधार पर ही इस प्रस्तावित कानून की पड़ताल करें। उनका कहना है कि इस कानून का विरोध किसानों को गरीब बनाए रखने की साजिश है। क्या है इसका मतलब? मतलब यह कि जमीन बेचने से रोक कर हम किसानों का अहित करेंगे। उन्हें जमीन से मुक्त होना चाहिए ताकि वे रोजगार के अन्य उपायों से बेहतर कमाई कर सकें। यही बात झारखंड बनने के बाद पहले मुख्यमंत्री बने बाबूलाल मरांडी कहते थे। यानी आदिवासी को अपनी जमीन बेचने का हक होना चाहिए। जमीन बेच कर वह धन्नासेठ बन जाएगा। शहर में रह सकेगा। बच्चों को निजी स्कूलों में पढ़ा सकेगा, आदि।

विडंबना यह कि हर किसी के पास पूंजी से पूंजी बनाने-बढ़ाने की कला नहीं होती। इसमें कुछ ही लोग महारत रखते हैं। जमीन बेच कर जो राशि हाथ में आती है वह फुर्र हो जाती है। उसके बाद जीवन चलाना और भी दूभर हो जाता है। रांची शहर में रिक्शा खींचने वाल अस्सी फीसद आदिवासी ही हैं। जीवन चलाने के लिए नियमित रोजगार चाहिए। यह कहां से आएगा?

मोदी कहते हैं कि बहुत जरूरी होने पर ही उपजाऊ जमीन का अधिग्रहण होगा। इसका मतलब यह हुआ कि जो जमीन उपजाऊ नहीं, या कम उपजाऊ है, उसके अधिग्रहण में तो किसी तरह की नैतिक अड़चन ही नहीं है। हमारी सभ्यता में उपजाऊ जमीन का मतलब बहुफसली जमीन से, सिंचित जमीन से लगाया जाता है। उस लिहाज से तो आदिवासी बहुल

झारखंड, ओड़िशा और पश्चिम बंगाल के पुरुलिया, झालिदा, बांकुड़ा की जमीन तो पूरी की पूरी ढाड़ या बंजर या कम उपज वाली है। सिंचाई की सुविधा भी नाममात्र की। बावजूद इसके वे आदिवासी आबादी के जीवन का आलंबन हैं। बारिश आधारित धान की एक फसल से ही आदिवासी जनता को पूरे साल की न सही, चार-पांच महीनों की खुराकी प्राप्त होती है। शेष महीने वनोत्पाद पर निर्भर हैं। फिर आसपास के इलाकों में थोड़ी-बहुत मजूरी कर ली।

यह जमीन निकल गई तो क्या होगा उनके जीवन का? जीवन अनुदानों से, भीख से नहीं चलता। जीवन चलाने के लिए आलंबन चाहिए। क्या हमें यह समझ नहीं कि हमारे देश में सबसे दयनीय स्थिति दलितों की है और उसकी एक वजह यह कि दलित समुदाय के पास जमीन नहीं है, कुछ अति पिछड़ी जातियों के पास भी नहीं है। वे भूमिहीन मजूर हैं। पूरे उत्तर भारत में वे बासगीत के पर्चे के लिए हाल तक संघर्ष करते रहे हैं और कोई भी सरकार उन भूमिहीनों को बसने की जमीन देने के दायित्व को भी अब तक पूरा नहीं कर सकी है।

इन्फ्रास्ट्रक्चर यानी बुनियादी ढांचे की बातें सभी करते हैं। क्या है यह बुनियादी ढांचा? गांव में सड़क, बिजली, स्कूल, अस्पताल, इसमें रोक कहां हैं? कब इसके लिए जमीन नहीं मिली? क्या वास्तव में जमीन ही समस्या है? एक बार गांव जाकर तो देखिए। गांव की संकरी सड़कें भी सीमेंट की सड़कों में बदल दी गई हैं। बिना एप्रोच वाली सड़कों पर पुलिया बना दी गई है। स्कूल भवन एक बार नियमित रूप से चलने के पहले ही खंडहर में बदल रहे हैं। कहीं शैक्षणिक अनुदान का अभाव, कहीं योग्य शिक्षकों का। अस्पताल है तो डॉक्टर नहीं। डॉक्टर है तो करीब के शहर में रहता है और कस्बों में प्राइवेट प्रैक्टिस करता है। बुनियादी ढांचे की राह की सबसे बड़ी रुकावट है सरकारी महकमे में व्याप्त भ्रष्टाचार। विकास योजनाओं में जन भागीदारी का अभाव। मोदी कहते हैं कि निजी उद्योग के लिए सहमति का प्रावधान जारी है। लेकिन जमीनी नजारा तो कुछ और है।

जनता किसी योजना से असहमत है, इसके लिए क्या करे? कैसे सरकार समझेगी कि स्थानीय जनता अपने क्षेत्र में खनन नहीं चाहती। उद्योग नहीं चाहती। पोस्को के खिलाफ लगातार आंदोलन हो रहा है। सरकार फिर भी वहां कारखाना लगाने पर तुली है। नियमगिरि इलाके में तो सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश पर जिला सत्र न्यायालय की उपस्थिति में बारह ग्रामसभाओं की बैठकें हुईं और कौंध आदिवासियों ने उस इलाके में बॉक्साइट के खनन को सिरे से नकार दिया। झारखंड के सिंहभूम जिले में जिंदल और भूषण इस्पात कारखाना लगाना चाहते हैं। दोनों इलाकों में लगातार आंदोलन हो रहा है। अब अपनी असहमति जताने के लिए लोग क्या करें?

जिंदल पहले चांडिल क्षेत्र में गया। वह उन विस्थापितों का

इलाका है जो चांडिल बांध बनने से विस्थापित हुए थे। सरकारी वादों से छले गए। विस्थापितों ने वहां जिंदल का विरोध किया तो वहां से अपनी योजना पोटका के आसनबनी क्षेत्र में ले गए। आसपास है पोटका और जमशेदपुर शहरी क्षेत्र। सुवर्णरेखा नदी के बगल का यह इलाका कुर्मी समुदाय का है जो जबर्दस्त खेती करते हैं। वे लोग लगातार धरना, ज्ञापन, अधिकारियों का घेराव आदि करते रहे हैं। लेकिन सरकार जिंदल के पक्ष में खड़ी है। प्रशासन उसका लठैत बन गया है। हाता से पोटका जाने वाली सड़क के दोनों तरफ की जमीन भूषण को चाहिए। दोनों तरफ खेती होती है। लोग विरोध कर रहे हैं। दाहिनी तरफ की जमीन एक वोल्टास कंपनी ने किसी जमाने में नौकरी देने के वादे के साथ खरीदी थी। नहीं चली। उसी से भूषण ने जमीन खरीद ली। वहां बस एक लंबी अधूरी चहारदिवारी खड़ी कर ली। प्रतीक्षा है कि स्थितियां अनुकूल बनें तो नए सिरे से आगे की कार्रवाई हो।

सरकारी योजनाओं, थोपी हुई विकास योजनाओं का हथ्र क्या होता है, इसका एक अद्भुत उदाहरण है चांडिल बांध। अब तक पच्चीस हजार करोड़ की धनराशि खर्च हो चुकी है। अड़तीस गांव पूर्ण रूप से और अठहत्तर गांव आंशिक रूप से, कुल 116 गांव प्रभावित हुए। प्रस्तावित योजना में दो लाख पचपन हजार हेक्टेयर में जमीन की सिंचाई की बात कही गई थी, लेकिन अकूत जल भंडारण के बावजूद सिंचाई पांच-सात किमी के दायरे में भी नहीं। क्योंकि खेतों तक नहर ही नहीं गई। चांडिल बांध के पानी का इस्तेमाल मुख्यतः कुछ औद्योगिक घरानों के लिए हो रहा है या फिर टाटा कंपनी कर रही है जमशेदपुर के निवासियों को पानी की आपूर्ति करके। वह भी पानी बेच कर। दूसरी तरफ बांध में तेजी से गाद भरता जा रहा है।

साठ के दशक में बोकारो स्टील, सिंदरी खाद कारखाना, हटिया, रांची के एचइसी, पतरातु तापविद्युतघर आदि के लिए विशाल भूखंडों का अधिग्रहण हुआ था। बोकारो स्टील में अधिग्रहीत आधी जमीन का ही इस्तेमाल हुआ। सिंदरी कब का बंद हो चुका है। एचइसी बंदी के कगार पर है। पतरातु तापविद्युत केंद्र से बिजली कम धुआं ज्यादा निकलता है। उनकी जमीन पुराने कानून के तहत मूल रैयतों को वापस हो जानी चाहिए। वैसा हुआ तो नहीं। कम से कम मोदी उन्हीं जमीनों पर नए कारखाने लगावाएं। सिर्फ जमशेदपुर शहर में कई पुराने निजी कारखाने बंद हैं। इंडियन केबल कंपनी बंद है। कृषि उपकरण बनाने वाली एग्रिको में काम नहीं होता, आउटसोर्सिंग से माल बनता है। यानी बाहर से माल लाकर एग्रिको का ठप्पा लगता है। बिहार स्पंज आयरन लिमिटेड बंद है। हांलाकि अर्जुन मुंडा ने अपने मुख्यमंत्रित्व-काल में छत्तीस करोड़ का पुनरुद्धार पैकेज दिया था। मोदी इनकी जमीन अपने नए कॉरपोरेट मित्रों को क्यों नहीं मुहैया करा देते?

हाशिमपुरा नरसंहार - बीएन राय ने जो मौके पर देखा

हाशिमपुरा नरसंहार :

उत्तर प्रदेश पुलिस के इतिहास का एक काला अध्याय

■ वी एन राय

1987 में मेरठ के हाशिमपुरा नरसंहार में 42 निर्दोष लोगों को मार दिया गया था और उन्हें गाजियाबाद में फेंक दिया गया था। उस समय गाजियाबाद के पुलिस अधीक्षक विभूति नारायण राय थे, जिन्होंने इस मामले में मुकदमा दर्ज कराया था और जांच के बाद 16 पीएसी के जवान अभियुक्त बने थे, जिन्हें अदालत ने सबूतों के अभाव में छोड़ दिया। श्री राय का हाशिमपुरा प्रकरण पर यह संस्मरण महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की साइट हिंदी समय पर प्रकाशित है। हमारे पाठकों को हिंदी समय से साभार।

जीवन के कुछ अनुभव ऐसे होते हैं जो जिन्दगी भर आपका पीछा नहीं छोड़ते। एक दुःस्वप्न की तरह वे हमेशा आपके साथ चलते हैं और कई बार तो कर्ज की तरह आपके सर पर सवार रहते हैं। हाशिमपुरा भी मेरे लिये कुछ ऐसा ही अनुभव है। 22-23 मई सन 1987 की आधी रात दिल्ली गाजियाबाद सीमा पर मकनपुर गाँव से गुजरने वाली नहर की पटरी और किनारे उगे सरकण्डों के बीच टार्च की कमजोर रोशनी में खून से लथपथ धरती पर मृतकों के बीच किसी जीवित को तलाशना- सब कुछ मेरे स्मृति पटल पर किसी हॉरर फिल्म की तरह अंकित है।

उस रात दस-साढ़े दस बजे हापुड़ से वापस लौटा था। साथ जिला मजिस्ट्रेट नसीम जैदी थे जिन्हें उनके बँगले पर उतारता हुआ मैं पुलिस अधीक्षक निवास पर पहुँचा। निवास के गेट पर जैसे ही कार की हेडलाइट्स पड़ी मुझे घबराया हुआ और उड़ी रंगत वाला चेहरा लिये सब इंस्पेक्टर वी.बी.सिंह दिखायी दिया जो उस समय लिंक रोड थाने का इंचार्ज था। मेरा अनुभव बता रहा था कि उसके इलाके में कुछ गंभीर घटा है। मैंने ड्राइवर को कार रोकने का इशारा किया और नीचे उतर गया।

वी.बी.सिंह इतना घबराया हुआ था कि उसके लिये सुसंगत तरीके से कुछ भी बता पाना संभव नहीं लग रहा था। हकलालते हुये और असंबद्ध टुकड़ों में उसने जो कुछ मुझे बताया वह स्तब्ध कर देने के लिये काफी था। मेरी समझ में आ गया कि उसके थाना क्षेत्र में कहीं नहर के किनारे पीएसी ने कुछ मुसलमानों को मार दिया है। क्यों मारा? कितने लोगों को मारा? कहाँ से लाकर मारा? स्पष्ट नहीं था। कई बार उसे अपने तथ्यों को दुहराने के लिये कह कर मैंने पूरे घटनाक्रम को टुकड़े-टुकड़े जोड़ते हुये एक नैरेटिव तैयार करने की कोशिश की। जो चित्र बना उसके अनुसार वी.बी.सिंह थाने में अपने कार्यालय में बैठा हुआ था कि लगभग 9 बजे उसे मकनपुर की तरफ से फायरिंग की आवाज सुनायी दी। उसे और थाने में मौजूद दूसरे पुलिस कर्मियों को लगा कि गाँव में डकैती पड़ रही है। आज तो मकनपुर गाँव का नाम सिर्फ रेवेन्यू रिकॉर्ड्स में है। आज गगनचुम्बी आवासीय इमारतों, मॉल और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों वाले मकनपुर में 1987 में दूर-दूर तक बंजर जमीन पसरी हुयी थी। इसी

बंजर जमीन के बीच की एक चक रोड पर वी.बी.सिंह की मोटर सायकिल दौड़ी। उसके पीछे थाने का एक दारोगा और एक अन्य सिपाही बैठे थे। वे चक रोड पर सौ गज भी नहीं पहुँचे थे कि सामने से तेज रफ्तार से एक ट्रक आता हुआ दिखायी दिया। अगर उन्होंने समय रहते हुये अपनी मोटर साइकिल चक रोड से नीचे न उतार दी होती तो ट्रक उन्हें कुचल देता। अपना संतुलन संभालते-संभालते जितना कुछ उन्होंने देखा उसके अनुसार ट्रक पीले रंग का था और उस पर पीछे 41 लिखा हुआ था, पिछली सीटों पर खाकी कपड़े पहने कुछ लोग बैठे हुये दिखे। किसी पुलिस कर्मी के लिये यह समझना मुश्किल नहीं था कि पीएसी की 41 वीं बटालियन का ट्रक कुछ पीएसी कर्मियों को लेकर गुजरा था। पर इससे गुत्थी और उलझ गयी। इस समय मकनपुर गाँव में पीएसी का ट्रक क्यों आ रहा था? गोलियों की आवाज के पीछे क्या रहस्य था? वी.बी.सिंह ने मोटर साइकिल वापस चक रोड पर डाली और गाँव की तरफ बढ़ा। मुश्किल से एक किलोमीटर दूर जो नजारा उसने और उसके साथियों ने देखा वह रोंगटे खडा कर देने वाला था मकनपुर गाँव की आबादी से पहले चक रोड एक नहर को काटती थी। नहर आगे जाकर दिल्ली की सीमा में प्रवेश कर जाती थी। जहाँ चक रोड और नहर एक दूसरे को काटते थे वहाँ पुलिया थी। पुलिया पर पहुँचते-पहुँचते वी.बी.सिंह के मोटर साइकिल की हेडलाइट जब नहर के किनारे उस सरकंडे की झाड़ियों पर पड़ी तो उन्हें गोलियों की आवाज का रहस्य समझ में आया। चारों तरफ खून के धब्बे बिखरे पड़े थे। नहर की पटरी, झाड़ियों और पानी के अन्दर ताजा जख्मों वाले शव पड़े थे। वी.बी.सिंह और उसके साथियों ने घटनास्थल का मुआयना कर अन्दाज लगाने की कोशिश की कि वहाँ क्या हुआ होगा? उनकी समझ में सिर्फ इतना आया कि वहाँ पड़े शवों और रास्ते में दिखे पीएसी की ट्रक में कोई संबन्ध जरूर है। साथ के सिपाही को घटनास्थल पर निगरानी के लिये छोड़ते हुये वी.बी.सिंह अपने साथी दारोगा के साथ वापस मुख्य सड़क की तरफ लौटा। थाने से थोड़ी दूर गाजियाबाद-दिल्ली मार्ग पर पीएसी की 41 वीं बटालियन का मुख्यालय था। दोनो सीधे वहीं पहुँचे। बटालियन का मुख्य द्वार बंद था। काफी देर बहस करने के बावजूद भी संतरी ने उन्हें अंदर जाने की इजाजत नहीं दी। तब वी.बी.सिंह ने जिला

मुख्यालय आकर मुझे बताने का फैसला किया। जितना कुछ आगे टुकड़ों-टुकड़ों में बयान किये गये वृत्तांत से मैं समझ सका उससे स्पष्ट हो ही गया था कि जो घटा है वह बहुत ही भयानक है और दूसरे दिन गाजियाबाद जल सकता था। पिछले कई हफ्तों से बगल के जिले मेरठ में सांप्रदायिक दंगे चल रहे थे और उसकी लपटें गाजियाबाद पहुँच रहीं थीं। मैंने सबसे पहले जिला मजिस्ट्रेट नसीम जैदी को फोन किया। वे सोने ही जा रहे थे। उन्हें जगने के लिये कह कर मैंने जिला मुख्यालय पर मौजूद अपने एडिशनल एसपी, कुछ डिप्टी एसपी और मजिस्ट्रेटों को जगाया और तैयार होने के लिये कहा। अगले चालीस-पैंतालीस मिनटों में सात-आठ वाहनों में लदे-फदे हम मकनपुर गाँव की तरफ लपके। नहर की पुलिया से थोड़ा पहले हमारी गाड़ियाँ खड़ी हो गयीं। नहर के दूसरी तरफ थोड़ी दूर पर ही मकनपुर गाँव की आबादी थी लेकिन तब तक कोई गाँव वाला वहाँ नहीं पहुँचा था। लगता था कि दहशत ने उन्हें घरों में दुबकने को मजबूर कर दिया था। थाना लिंक रोड के कुछ पुलिसकर्मी जरूर वहाँ पहुँच गये थे। उनकी टार्चों की रोशनी के कमजोर वृत्त नहर के किनारे उगी घनी झाड़ियों पर पड़ रहे थे पर उनसे साफ देख पाना मुश्किल था। मैंने गाड़ियों के झाड़वों से नहर की तरफ रुख करके अपने हेडलाइट्स ऑन करने के लिये कहा। लगभग सौ गज चौड़ा इलाका प्रकाश से नहा उठा। उस रोशनी में मैंने जो कुछ देखा वह वही दुःस्वप्न था जिसका जिक्र मैंने शुरु में किया है।

गाड़ियों की हेडलाइट्स की रोशनियाँ झाड़ियों से टकरा कर टूट टूट जा रहीं थीं इसलिये टार्चों का भी इस्तेमाल करना पड़ रहा था। झाड़ियों और नहरों के किनारे खून के थक्के अभी पूरी तरह से जमे नहीं थे, उनमें से खून रिस रहा था। पटरी पर बेतरतीबी से शव पड़े थे- कुछ पूरे झाड़ियों में फंसे तो कुछ आधे तिहाई पानी में डूबे। शवों की गिनती करने या निकालने से ज्यादा जरूरी मुझे इस बात की पड़ताल करना लगा कि उनमें से कोई जीवित तो नहीं है। सबने अलग-अलग दिशाओं में टार्चों की रोशनियाँ फेंक फेंक कर अन्दाज लगाने की कोशिश की कि कोई जीवित है या नहीं। बीच-बीच में हम हांक भी लगाते रहे कि यदि कोई जीवित हो तो उत्तर दे। हम दुश्मन नहीं दोस्त हैं। उसे अस्पताल ले जाएंगे। पर कोई जवाब नहीं मिला। निराश होकर हममें से कुछ पुलिया पर बैठ गये। मैंने और जिलाधिकारी ने तय किया कि समय खोने से कोई लाभ नहीं है। हमें दूसरे दिन की रणनीति बनानी थी, इसलिये जूनियर अधिकारियों को शवों को निकालने और जरूरी लिखा-पढ़ी करने के लिये कह कर हम लिंक रोड थाने के लिये मुड़े ही थे कि नहर की तरफ से खॉसने की आवाज सुनायी दी। सभी ठिठक कर रुक गये। मैं वापस नहर की तरफ लपका। फिर मौन छा गया। स्पष्ट था कि कोई जीवित था लेकिन उसे यकीन नहीं था कि जो लोग उसे तलाश रहे हैं वे मित्र हैं। हमने फिर आवाजें लगानी शुरू कीं, टार्च की रोशनी अलग-अलग शरीरों पर डालीं और अंत में हरकत करते हुये एक शरीर पर हमारी नजरें टिक गयीं। कोई दोनो हाथों से झाड़ियाँ पकड़े आधा शरीर नहर में डुबोये इस तरह पड़ा था कि बिना ध्यान से देखे यह अन्दाज लगाना मुश्किल था कि वह जीवित है या मृत ! दहशत से बुरी तरह वह काँप रहा था और काफी देर तक आश्वस्त करने के बाद यह विश्वास करने वाला कि हम उसे मारने नहीं बचाने वाले

हैं, जो व्यक्ति अगले कुछ घंटे हमें इस लोमहर्षक घटना की जानकारी देने वाला था, उसका नाम बाबूदीन था। गोली उसे छूते हुये निकल गयी थी। भय से निश्चेष्ट होकर वह झाड़ियों में गिरा तो भाग दौड़ में उसके हत्यारों को यह जाँचने का मौका नहीं मिला कि वह जीवित है या मर गया। दम साधे वह आधा झाड़ियों और आधा पानी में पड़ा रहा और इस तरह मौत के मुँह से वापस लौट आया। उसे कोई खास चोट नहीं आयी थी और नहर से चलकर वह गाड़ियों तक आया। बीच में पुलिया पर बैठकर थोड़ी देर सुस्ताया भी। लगभग 21 वर्षों बाद जब हाशिमपुरा पर एक किताब लिखने के लिये सामग्री इकट्ठी करते समय मेरी उससे मुलाकात हुयी जहाँ पीएसी उसे उठा कर ले गयी थी तो उसे याद था कि पुलिया पर बैठे उसे किसी सिपाही से माँग कर बीड़ी दी थी। बाबूदीन ने जो बताया उसके अनुसार उस दिन अपरान्ह तलाशियों के दौरान पीएसी के एक ट्रक पर बैठकर चालीस पचास लोगों को ले जाया गया तो उन्होंने समझा कि उन्हें गिरफ्तार कर किसी थाने या जेल ले जाया जा रहा है। मकनपुर पहुँचने के लगभग पौन घण्टा पहले एक नहर पर ट्रक को मुख्य सड़क से उतारकर नहर की पटरी पर कुछ दूर ले जाकर रोक दिया गया। पीएसी के जवान कूद कर नीचे उतर गये और उन्होंने ट्रक पर सवार लोगों को नीचे उतरने का आदेश दिया। अभी आधे लोग ही उतरे थे कि पीएसी वालों ने उन पर फायर करना शुरू कर दिया। गोलियाँ चलते ही ऊपर वाले गाड़ी में ही दुबक गये। बाबूदीन भी उनमें से एक था। बाहर उतरे लोगों का क्या हुआ वह सिर्फ अनुमान ही लगा सकता था। शायद फायरिंग की आवाज आस पास के गाँवों में पहुँची जिसके कारण आस पास से शोर सुनायी देने लगा और पीएसी वाले वापस ट्रक में चढ़ गये। ट्रक तेजी से बैक हुआ और वापस गाजियाबाद की तरफ भागा। यहाँ वह मकनपुर वाली नहर पर आया और एक बार फिर सबसे उतरने के लिये कहा गया। इस बार डर कर ऊपर दुबके लोगों ने उतरने से इंकार कर दिया तो उन्हें खींच खींच कर नीचे घसीटा गया। जो नीचे आ गये उन्हें पहले की तरह गोली मारकर नहर में फेंक दिया गया और जो डर कर ऊपर दुबके रहे उन्हें ऊपर ही गोली मारकर नीचे ढकेला गया। बाबूदीन जब यह विवरण बता रहा था तो हमने पहले घटनास्थल का अन्दाज लगाने की कोशिश की। किसी ने सुझाव दिया कि पहला घटनास्थल मेरठ से गाजियाबाद आते समय रास्ते में मुरादनगर थाने में पड़ने वाली नहर हो सकती है। मैंने लिंक रोड थाने के वायरलेस सेट से मुरादनगर थाने को कॉल किया तो स्पष्ट हुआ कि हमारा सोचना सही था। कुछ देर पहले ही मुरादनगर थाने को भी ऐसी ही स्थिति से गुजरना पड़ा था। वहाँ भी कई मृत शव नहर में पड़े मिले थे और कुछ लोग जीवित थाने लाये गये थे।

इसके बाद की कथा एक लंबा और यातनादायक प्रतीक्षा का वृत्तांत है जिसमें भारतीय राज्य और अल्पसंख्यकों के रिश्ते, पुलिस का गैर पेशेवराना रवैया और घिसट घिसट कर चलने वाली उबाऊ न्यायिक प्रणाली जैसे मुद्दे जुड़े हुये हैं। मैंने 22 मई 1987 को जो मुकदमे गाजियाबाद के थाना लिंक रोड और मुरादनगर पर दर्ज कराये थे वे पिछले 21 वर्षों से विभिन्न बाधाओं से टकराते हुये अभी भी अदालत में चल रहे हैं और अपनी तार्किक परिणति की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भगत सिंह को लेकर कुछ गैरवाजिब चिंताएं

■ सुधीर विद्यार्थी

1. भगत सिंह को अकादमिक चिंतन या बौद्धिक विमर्श की वस्तु न बनाया जाये। यह याद रखा जाना चाहिए कि प्रगतिशील और बुद्धिजीवियों के मध्य चर्चा का बिन्दु बनने से बहुत पहले भगत सिंह लोक के बीच नायकत्व हासिल कर चुके थे। उन पर सर्वाधिक लोकगीत रचे और गाये गये। मुझे खूब याद पड़ता है कि अपनी किशोरावस्था में गाँवों में मेलों और हाटों में पान की दुकानों पर आइने के दोनों तरफ और ट्रकों के दरवाजों पर भगत सिंह की हैट वाली तथा चन्द्रशेखर आजाद की मूँछ पर हाथ रखे फोटोएँ हुआ करती थीं। शुरुआत में जनसंघ के लोगों ने भी उन्हें इंकलाब जिंदाबाद का नारा लगाते हुए बम फेंकने वाले एक बहादुर नौजवान, जो हँसते हुए फाँसी का फंदा चूमता है, के रूप में जिन्दा बनाये रखा। प्रगतिशीलों के विमर्श में तो वे बहुत देर से आये। जानना यह होगा कि भगत सिंह या आजाद की जगह लोक के मध्य है। वहीं से दूसरा भगत सिंह पैदा होगा, अकादमीशियनों के बीच से नहीं।

2. इस समय को पहचानिए कि जहाँ बिग बी के साथ भोजन करने की नीलामी दस लाख रुपये तक पहुँच रही हो, जिस समाज में मुन्नी बदनाम होती है तो फिल्म हिट हो जाती है यानी बदनाम होने में अब फायदा है सो इसे हम बदनाम युग की संज्ञा दे सकते हैं, कॉमनवेल्थ खेलों में जहाँ पग-पग पर हमें गुलाम होने का अहसास कराया जाता हो और हम गुलाम रहकर खुशी का अनुभव भी कर रहे हों। इसी कॉमनवेल्थ का तो कवि शंकर शैलेंद्र ने अपने मशहूर गीत 'भगत सिंह से' में विरोध किया था जिसमें कहा गया था - मत समझो पूजे जाओगे क्योंकि लड़े थे दुश्मन से / रुत ऐसी है आँख लड़ी है अब दिल्ली की लंदन से। कॉमनवेल्थ कुटुंब देश का खींच रहा है मंतर से / प्रेम विभोर हुए नेतागण रस बरसा है अंबर से - तो ऐसे निकृष्ट संस्कृति विरोधी और इतिहास विरोधी समय में हमें बहुत सतर्क रहने की जरूरत है कि भगत सिंह को याद करने अर्थ केवल एक समारोह अथवा प्रदर्शनप्रियता में तब्दील होकर न रह जाये। मैं मानता हूँ कि भगत सिंह को सेमिनारों और जेएनयू मार्का विश्वविद्यालयी चर्चाओं से बाहर निकाल कर उन्हें जनता के मध्य ले जाने की पहल करने का उपयुक्त समय भी यही है।

3. मेरा निवेदन है कि भगत सिंह को कृपया देवत्व न सौंपें और न उन्हें क्रान्ति का आदिपुरुष बनायें। भगत सिंह कोई व्यक्ति नहीं थे, अपितु उनके व्यक्तित्व में संपूर्ण भारतीय क्रान्तिकारी आंदोलन का वैचारिक विकास बोल रहा है। सत्तर साल लंबे क्रान्तिकारी आंदोलन ने भगत सिंह को पैदा किया। भगत सिंह उस आंदोलन को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करने वाले एक व्यक्ति ही थे। वे स्वयं विकास की प्रक्रिया में थे। कल्पना करिए कि यदि भगत सिंह की जेल में लिखीं चार

पुस्तकें गायब न हो गई होतीं तब उनके चिंतन और बौद्धिक क्षमताओं का कितना बड़ा आयाम हमारे सम्मुख प्रकट हुआ होता। दूसरे यह कि आगे चलकर भारतीय क्रान्ति के मार्ग पर उन्हें और भी बौद्धिक ऊँचाई हासिल करनी थी। पर इस सबको लेकर उनके मन में कोई गर्वोक्ति नहीं थी, बल्कि एक विनीत भाव से उन्होंने स्वयं सुखदेव को संबोधित करते हुए कहा था कि क्या तुम यह समझते हो कि क्रान्ति का यह उद्यम मैंने और तुमने किया है। यह तो होना ही था। हम और तुम सिर्फ समय और परिस्थितियों की उपज हैं। हम न होते तो इसे कोई दूसरा करता। और कितना आत्मसंतोष था उस व्यक्ति के भीतर जिसने बलिदान से पूर्व यह भी कहा कि आज मैं जेल की चहारदीवारी के भीतर बैठकर खेतों, खलिहानों और सड़कों से इंकलाब जिंदाबाद का नारा सुनता हूँ तो लगता है कि मुझे अपनी जिन्दगी की कीमत मिल गई।

3. और फिर साढ़े तेईस साल की इस छोटी सी जिन्दगी का इससे बड़ा मोल हो भी क्या सकता था।

4. आवश्यक तौर पर देखा यह भी जाना चाहिए कि भगत सिंह के साथ पूरी क्रान्तिकारी पार्टी थी। हम पार्टी और संपूर्ण आंदोलन को क्यों विस्मृत कर जाते हैं। हम यह क्यों नहीं याद रखते कि भगत सिंह के साथ चन्द्रशेखर आजाद का सर्वाधिक क्षमतावान और शौर्यमय नेतृत्व था। क्या भारतीय क्रान्तिकारी आंदोलन का मस्तिष्क कहे जाने वाले कामरेड भगवतीचरण वोहरा पार्टी के कम महत्वपूर्ण व्यक्ति थे जिन्होंने बम का दर्शन जैसा तर्कपूर्ण और बौद्धिक प्रत्युत्तर देने वाला पर्चा ही नहीं लिखा, बल्कि नौजवान भारत सभा और हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के घोषणापत्र आदि उन्होंने लिपिबद्ध किये। हमने विजय कुमार सिन्हा, जिन्हें दल में अंतरराष्ट्रीय संपर्कों और प्रचार-प्रसार की बड़ी जिम्मेदारी सौंपी गई थी, को भी हमने भुलाने योग्य मान लिया। यह सच है कि हम विजय दा से भगत सिंह की एक फुललेन्थ की जीवनी की अपेक्षा कर रहे थे जो उनके जीवित रहते पूरी नहीं हो पाई। पर मेरा यहाँ जोर देकर कहना यह है कि हमने बटुकेश्वर दत्त से लेकर सुशीला दीदी, धन्वंतरि, सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य मास्टर रुद्रनारायण सिंह आदि सबको भुला देने में पूरी तरह निर्लज्जता का परिचय दिया। हमने इनमें से किसी की शताब्दी नहीं मनाई। यह सब स्वतंत्र भारत में जीवित रहे पर हमने इनमें से किसी क्रान्तिकारी की खैर खबर नहीं ली। क्या पूरी पार्टी और उसके सदस्यों के योगदान और अभियानों को विस्मृत करके अपनी समारोह प्रियताओं के चलते भगत सिंह को हम उस तरह का तो नहीं बना दे रहे हैं- उतना ऊँचा और विशाल, जिसकी तस्वीर को फिर अपने हाथों से छूना मुश्किल हो जाये हमारे लिए। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम अपनी आत्ममुग्धताओं में ही डूबे यह सब देख समझ ही न पा

रहे हों। इससे भविष्य के क्रान्तिकारी संग्राम को बड़ा नुकसान होगा क्योंकि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में संघर्ष की पूरी और सही तस्वीर को देख पाने में हम सर्वथा असमर्थ होंगे।

5. भगत सिंह के स्मरण के साथ एक खतरा यह भी है कि पिछले कुछेक वर्षों से हम देख रहे हैं कि उन्हें पगड़ी पहनाने का षड्यन्त्र बड़े पैमाने पर किया जाने लगा है। पर पंजाब के उस क्रान्तिकारी नौजवान का सिर इतना बड़ा हो गया कि अब उस पर कोई पगड़ी नहीं पहनाई जा सकती है। हम वैसा भ्रम भले ही थोड़ी देर को अपने भीतर पाल लें। यद्यपि शताब्दी वर्ष पर तो यह खुलेआम बहुत बेशर्मी के साथ संपन्न हुआ। देखा जाये तो हुआ पहले भी था जब मैं पंजाब के मुख्यमंत्री श्री दरबारा सिंह के आमंत्रण पर 1982 में चण्डीगढ़ में उनसे मिलने आया तो देखा कि उनके कार्यालय में भगत सिंह का जो चित्र लगा है उसमें उन्हें पगड़ी पहनाई गई है। अब विडंबना देखिए कि कोई आज उस पगड़ी को केसरिया रंग रहा है तो कोई लाल। इसमें आरएसएस से लेकर हमारे प्रगतिशील मित्र तक किसी तरह पीछे नहीं हैं। एक सर्वथा धर्मनिरपेक्ष क्रान्तिकारी शहीद को धर्म के खाँचे में फिट किये जाने की कोशिशों से सावधान रहना चाहिए। यहाँ अपनी बात कहने का हमारा अर्थ यह भी है कि सब भगत सिंह को अपने-अपने रंग में रंगने का प्रयास कर रहे हैं। कोई कहता है कि वे जिन्दा होते तो नक्सलवादी होते। उनके परिवार के ही एक सदस्य पिछले दिनों उन्हें आस्तिक साबित करने की असफल कोशिशें करते रहे। यह कह कर कि भगत सिंह की जेल नोटबुक में किसी के दो शेर लिखे हुए हैं जिनमें परवरदिगार जैसे शब्द आए हैं जो उनकी आस्तिकता को प्रमाणित करते हैं। सर्वाधिक तर्कहीन ऐसे वक्तव्यों की हमें निंदा ही नहीं, अपितु इसका विरोध करना चाहिए। यादविन्दर जी को भगत सिंह का लिखा 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' जैसा आलेख आँखें खोल कर पढ़ लेना चाहिए। मैं यहाँ निसंकोच यह भी बताना चाहता हूँ कि दूसरे राजनीतिक दल भी बहुत निर्लज्ज तरीके से इस शहीद के हाथों में अपनी पार्टी का झण्डा पकड़ाने का काम करते रहे जो कामयाब नहीं हुआ। धार्मिक कट्टरता और पुनरुत्थानवाद के इस युग में भगत सिंह की वास्तविक धर्मनिरपेक्षता की बड़ी पैरोकारी की हम सबसे अधिक जरूरत महसूस करते हैं। लेकिन ऐसे में जब गाँधी और जिन्ना को भी डंके की चोट पर धर्मनिरपेक्ष बताया जा रहा हो, और भाजपा के अलंबरदार स्वयं को खालिस और दूसरों को छद्म धर्मनिरपेक्ष बताते हों तब वास्तविक धर्मनिरपेक्षता जो नास्तिकता के बिना सम्भव नहीं है, उसका झण्डा कौन उठाए? यह साफ तौर पर मान लिया जाना चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सर्वधर्मसमभाव कतई नहीं है जैसा कि हम बार-बार, अनेक बार प्रचारित करते और कहते हैं। यह हमारा सर्वथा बेईमानी भरा चिंतन है जिसका पर्दाफाश किया जाना चाहिए। विचार यह भी किया जाना चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता आखिर कितनी तरह की? रघुपति राघव राजाराम जपने वाले गाँधी भी धर्मनिरपेक्ष थे, मजहब के नाम पर मुस्लिम होमलैंड ले लेने वाले जिन्ना भी धर्मनिरपेक्ष थे और भगत सिंह भी। तब इनमें से कौन सही धर्मनिरपेक्ष है, और धर्मनिरपेक्षता आखिर है क्या बला?

6. इधर भगत सिंह को संसद का पक्षधर साबित करने के भी प्रयत्न हुए और हो रहे हैं। संसद में भगत सिंह का चित्र या मूर्ति लगवाने का क्या अर्थ है। जिस संसदीय चरित्र और उसकी कार्यवाहियों के विरोध में उन्होंने, दल के निर्णय के अनुसार पर्चा और बम फेंका, क्या आज उस संसद और उसके प्रतिनिधियों की चाल-ढाल और आचरण बदल कर लोकोन्मुखी और जनपक्षधर हो गया है। यदि नहीं तो क्यों भगत सिंह पर काम करने वाले उन पर पुस्तकें जारी करवाने के लिए किसी सांसद अथवा मंत्री की चिरौरी करते हुए दिखाई पड़ते हैं। क्या हम वर्तमान संसदीय व्यवस्था के पैरोकार या पक्षधर होकर भगत सिंह को याद कर सकते हैं। आखिर क्यों भगत सिंह की शहादत के 52 वर्षों बाद उनकी बहन अमर कौर को भारत की वर्तमान संसद के चरित्र और उसकी कार्यप्रणाली पर उँगली उठाते हुए वहाँ घुसकर पर्चे फेंकने पड़े, जिसमें उठाए सवालों पर हमें गौर करना चाहिए। पर इस मुक्त देश में पसरा ठंडापन देखिए कि किसी ने भी 8 अप्रैल 1983 को अमर कौर की आवाज में आवाज मिलाकर एक बार भी इंकलाब जिंदाबाद बुलंद नहीं किया, जबकि यह दर्ज रहेगा कि इसी गुलाम देश ने तब भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त के स्वर में अपना स्वर बखूबी मिला दिया। जानने योग्य यह भी है कि पिछले दिनों संसद में भगत सिंह की जो प्रतिमा लगी उसमें वे पगड़ी पहने हुए हैं और वहाँ उनके साथ बम फेंकने वाले उनके अभिन्न बटुकेश्वर दत्त नदारद हैं।

7. जरूरी है कि भगत सिंह को याद करने और उनकी पूजा या पूजा के नाटक में हम फर्क करें। आज सारे जनवादी और प्रगतिशील राजनीतिक व सांस्कृतिक सामाजिक संगठन भगत सिंह को याद कर रहे हैं। दक्षिणपंथी और मध्यमार्गी भी। यह चीजों को घालमेल करने की धिनौनी कोशिशें हैं ताकि असली भगत सिंह अपनी पहचान के साथ ही अपना क्रान्तिकारित्व भी खो बैठें। आखिर क्या कारण है कि भगत सिंह आज तक किसी राजनीतिक पार्टी के नायक नहीं बन पाए। यह सवाल बड़ा है कि आजाद की शहादत के बाद हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ को पुनर्जीवित करने के कितने और कैसे प्रयास हुए और वे कामयाब नहीं हुए तो क्यों? और क्यों आजादी के बाद कोई राजनीतिक दल हिंसप्रस का झण्डा पकड़ने का साहस नहीं कर सका?

8. विचार यह करिए कि अब भावी इंकलाब का आधार क्या होगा। आजाद के नेतृत्व में भगत सिंह और दूसरे सारे युवा क्रान्तिकारी अधिकांशतः मध्यवर्ग से आए थे। आज पूँजीवादी व्यवस्था और बाजार के अनापशनाप विस्तार ने मध्यवर्ग को नागरिक से उपभोक्ता में तब्दील कर दिया है। नई पीढ़ी पूरी तरह कैरियर में डूबी है। उसके सपनों में अब देश और समाज नहीं है। वहाँ नितान्त लिजलिजे व्यक्तिगत सपनों की कंटीली झाड़ियाँ उग आई हैं। समाज टूट रहा है तो सामाजिक चिंताएं कहाँ जन्मेंगी। निम्न वर्ग जिन्दगी जीने की कशमकश में डूबा रह कर दो जून की रोटी मुहैया नहीं कर पा रहा है तो दूसरी ओर उच्च वर्ग क्रान्ति क्यों चाहेगा? क्या अपने विरुद्ध? ऐसा तो सम्भव ही नहीं है। तब फिर क्रान्ति का पौधा कहाँ पनपेगा और उसे कौन खाद-पानी देगा। यह बड़ा सवाल हमारे सामने मुँह

बाये खड़ा हुआ है और हम हवा में मंचों पर क्रान्ति की तलवारें भाँज रहे हैं। हम जो थोड़ा बहुत क्रान्ति के नाम पर कुछ करने की गलतफहमियाँ पाल रहे हैं, क्या वह हमारा वास्तविक क्रान्तिकारी उद्यम है। कौन जानता है हमें। जिनके लिए क्रान्ति करने का दावा हम करते रहे हैं, वे भी हमसे सर्वथा अपरिचित हैं। आप जेएनयू के किसी एअरकंडीशंड कमरे में तीसरी मंजिल पर बैठकर तेरह लोग क्रान्ति की लफ्फाजी करेंगे तो देश की जनता आपको क्यों पहचानेगी। याद रखिए कि जेएनयू देश नहीं है। पूछिए इस मुल्क के लोगों से छोटे शहरों, कस्बों, देहातों में जाकर अथवा सड़क पर चलते किसी आम आदमी को थोड़ा रोककर इन बौद्धिक विमर्श करने वाले लोगों के बारे में पूछिए तो वह मुँह बिचकाएँगे। वे तो इनमें से किसी को भी जानते बूझते नहीं। तो आप कर लीजिए क्रान्ति। इस देश की साधारण जनता आपसे परिचित नहीं है। न आप उसके साथ खड़े हैं, न ही वह आपके साथ। ऐसे में क्या आप जनता के बिना क्रान्ति करेंगे? लगता है कि इस देश में अब थोड़े से हवा हवाई लोग ही क्रान्ति की कार्यवाही को संपन्न करने का ऐतिहासिक दायित्व पूरा कर लेंगे। जनता अब उनके लिए गैरजरूरी चीज बन गई है।

9. आज भाषा का मुद्दा सबसे बड़ा मुद्दा है। यह आजादी के सवाल से गहरे तक जुड़ा हुआ है। अपनी भाषा के बिना आप आजादी की कल्पना नहीं कर सकते। पर आज सब ओर गुलामी की भाषा सिर माथे और उसकी बुलंद जयजयकार। भाषा का मामला सिर्फ भाषा का नहीं होता, वह संस्कृति का भी होता है। भगत सिंह ने यों ही भाषा और लिपि की समस्या से रूबरू होते हुए अपनी भाषाओं की वकालत नहीं की थी। क्या हम अंग्रेजी के बिना एक कदम भी आगे नहीं चल सकते? भाषा आज सबसे अहम मुद्दा है। हम उस ओर से आँखें न मूँदें और न ही उसे दरकिनार करें। भाषा के बिना राष्ट्र अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता।

10. अब तीन अन्य गौर करने वाली बातों पर हम अपना पक्ष और चिंताएं प्रकट करेंगे। वह यह कि आज भी ईमानदारी से भगत सिंह को याद करने वालों को वर्तमान सत्ता और व्यवस्था उसी तरह तंग और प्रताड़ित करती है, जिस तरह साम्राज्यवादी हुकूमत किया करती थी। शंकर शैलेंद्र का 'भगत सिंह से' गीत गाने पर संस्कृतिकर्मियों पर यह कह कर प्रहार किया जाता है कि यह गीत 1948 में सरकार ने यह कह कर जब्त किया था कि यह लोकप्रिय चुनी हुई सरकार के विरुद्ध जनता के मन में घृणा पैदा करता है। मैं स्वयं जानना चाहता हूँ कि क्या शंकर शैलेंद्र के इस गीत पर से 1948 के बाद से अभी तक सरकारी पाबंदी हटी है अथवा नहीं। यदि ऐसा हुआ है तो कब? दूसरा यह कि कई वर्ष पहले पाकिस्तान की फौज हुसैनीवाला से भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव के स्मारकों को तोड़कर ले गई। हमने क्यों नहीं अब तक उन स्मारकों की वापसी की मांग पाकिस्तान सरकार से की। क्या वह हमारा राष्ट्रीय स्मारक नहीं था। और तीसरा बिन्दु यह है कि कुछ वर्ष पहले उत्तर प्रदेश

की राजधानी लखनऊ में एक महोत्सव हुआ था, मेला लगा था। यह तब की बात है जब भगत सिंह पर एक साथ कई-कई फिल्में आई थीं यानी हमारे बॉलीवुड को भी क्रान्ति करने का शौक चर्चाया था। बाजार और बॉलीवुड में यदि भगत सिंह को बेचा जा सकता है तो इसमें हर्ज क्या है। बाजार हर चीज से मुनाफा कमाना चाहता है। पर मैं यहाँ फिल्मों में भगत सिंह को बेचने की बात नहीं कर रहा, न ही इस बात पर चिन्ता प्रकट कर रहा हूँ कि उन्होंने तुडुक-तुडुक और बल्ले-बल्ले करके भगत सिंह जैसे क्रान्तिकारी नायक को पर्दे पर नाचना दिखा दिया। मैं यहाँ बात कुछ दूसरी कहना चाहता हूँ। लखनऊ के उस मेले में एक रेस्त्रां बनाया गया था जिसका दरवाजा लाहौर जेल की तरह निर्मित किया गया। उसमें बैरों को वह ड्रेस पहनाई गई थी जिसे जेल के भीतर भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव ने पहना था। पानी जो वहाँ परोसा जा रहा था उसे काला पानी का नाम दिया गया था और घिनौनापन देखिए कि खाने के नाम पर स्वराज्य चिकन और काकोरी कबाब। यह हद से गुजर जाना है। लखनऊ एक प्रदेश की राजधानी है सांस्कृतिक संगठनों और राजनीतिक दलों का केंद्रीय स्थान। पर सब कुछ कई दिनों तक उस जगह ठीक ठाक चलता रहा। कोई हलचल नहीं। कोई विरोध नहीं। क्या हम वास्तव में मर चुके हैं, क्या हमारे भीतर कोई राष्ट्रीय चेतना शेष नहीं है। क्या हमें अपने राष्ट्रीय नायकों और शहीदों का अपमान कतई विचलित नहीं करता। क्या इतिहास के सवाल हमारे लिए इतने बेमानी हो गए हैं कि वे हमारे भीतर कोई उद्वेलन पैदा नहीं करते। कुछ लोग थोड़े वर्षों से तीसरा स्वाधीनता आंदोलन नाम से एक संगठन चला रहे हैं। शहीदेआजम भगत सिंह के दस्तावेजों को सामने लाने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम करने वाले प्रो. जगमोहन सिंह जी भी उससे जुड़े हैं। पर इस संगठन के चिंतन के प्राथमिक बिन्दु पर गौर करिए कि आंदोलन चलाने से पहले ही उसने घोषित कर दिया कि इंडिया गेट को ध्वस्त कर वहाँ शहीदों की बड़ी मीनार बनाना है। क्या यही इस देश का तीसरा स्वतंत्रता युद्ध होगा। कल तक हम अपने बीच बचे रहे जिन्दा शहीदों को कोई सम्मान और आदर नहीं दे पाए, उनकी ओर आँख उठाकर भी हमने देखा नहीं, उन्हें ठंडी और गुमनाम मौत मर जाने दिया पर आज उनके ईंट पत्थर के बुत खड़े करने में हमारी गहरी दिलचस्पी है। भगत सिंह को याद करने वाले संगठन कितनी गलतफहमियों में जी रहे हैं यह देखने के लिये आँखों को ज्यादा फैलाने की आवश्यकता नहीं है। क्या यह भी गौर करने लायक सच्चाई और त्रासदी नहीं है कि वामपंथी और साम्यवादी आंदोलन ही नहीं भगत सिंह के अनुयायी कहे जाने वाले लोगों और संस्थाओं ने भी सैद्धांतिक मीनमेख और थोड़े विमर्शों में स्वयं को अधिक उलझा लिया है। उनके बीच निर्लज्ज किस्म की संकीर्णताएं भी विद्यमान हैं। भगत सिंह का नाम स्वयं को प्रतिष्ठित करने के लिए लिया जाना कतई ठीक नहीं।

(समकालीन तीसरी दुनिया, मार्च 2012 से साभार)

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए